जो लिखना पड़ा

भदन्त आनंद कौसल्यायन



जो लिखना पड़ा

लेखक
भदन्त आनन्द कौसल्यायन

साहित्य निकुंज
प्रकाशन

प्रकाशक :
साहित्य-निकुंज
१६, शिवचरनलाल रोड
प्रयाग

मूल्य तीन रुपये

मुद्रक
पं० जयराम भार्गव
यूनिवर्सल प्रेस
प्रयाग

राष्ट्र-पिता

महात्मा गांधी

की

पुण्य स्मृति

को

सादर



दो शब्द

मुझे इस अवसर पर एक प्रकार से कुछ कहना ही नहीं है। लिखने के सम्बन्ध में जो दो-चार बातें मुझे कहने जैसी लगीं उन्हें मैं अपनी इससे पहले प्रकाशित पुस्तक 'जो न भूल सका'[1] में कह चुका हूँ। जब कुछ कहने को है ही नहीं तो खामख्वाह क्यों कुछ कहूँ ?

जिन लेखों अथवा निबन्धों—आप इन्हें जो चाहे कहें—का संग्रह इस पुस्तक में हो गया है वे किसी एक माला के दाने नहीं हैं। यदि हैं तो वे उस मूँगे की माला के दाने हैं जिसमें एक से अधिक रंग के मनके पिरोये रहते हैं। लेकिन जिस प्रकार मूँगे की माला के सभी दानों में कुछ न कुछ चमक रहती ही है, उसी प्रकार इन निबन्धों में भी शायद एक भी निबन्ध सर्वथा आभाहीन नहीं है।

कभी-कभी निबन्ध विषय-क्रम से लिखे जाते हैं। इन निबन्धों का कोई विषय-क्रम भी नहीं—किन्हीं में व्यक्तिगत चर्चा है और अधिकांश में व्यक्तियों तथा संस्थाओं की आलोचना। जितने भी निबन्ध आलोचना-प्रधान हैं वे भरसक कटु न हों, कम से कम कटु लगें न, इसका ध्यान तो रहा ही है, किन्तु जो बात जितनी गहराई के साथ, जितनी अनुभूति के साथ कहनी चाही उसमें कमी करने की क़ीमत देकर किसी एक भी जगह "माधुर्य" को ख़रीदा नहीं गया है।

यह "दो शब्द" प्रकाशित होते समय ही हृदय को विदीर्ण कर देनेवाली सूचना मिली कि बापू अब इस संसार में नहीं रहे। अपने विचारों की आस्था का अधिक से अधिक जो मूल्य दिया जा सकता है, वह राष्ट्र-पिता महात्मा गांधी ने दे दिया—इस राष्ट्र के माथे पर सदा के लिए कालिमा पुत गई।

इन निबन्धों में से कुछ में बापू की और उनके विचारों की चर्चा हुई है। वह अनिवार्य थी, क्योंकि वे जीवन के किस क्षेत्र पर छाये हुए नहीं थे ? लेखक को सन्तोष है कि वह अपने बापू के प्रति कहीं भी अविनयी नहीं हुआ है, तो भी अनजाने यदि कहीं हो गया हो तो वह क्षमाशीलात्मा के सम्मुख नतमस्तक क्षमाप्रार्थी है। अब उसे बापू से क्षमा माँगने का और अवसर कहाँ मिलेगा ?

---

१. हिन्दुस्तानी पब्लिकेशन्स, शाहगंज, इलाहाबाद से प्रकाशित।

इस संग्रह के निबन्धों में लिखने के कालक्रम का भी कोई सिलसला नहीं ही है। किसी पूर्ववर्ती निबन्ध में उत्तर-कालीन ऐतिहासिक घटना का निर्देश अथवा आलोचना है और किसी परवर्ती निबन्ध में उससे पहले की ऐतिहासिक घटना का निर्देश तथा आलोचना। इस प्रकार यह निबन्ध एक दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र हैं। इनमें यदि अन्योन्याश्रय का कहीं भी कुछ सम्बन्ध है तो इतना ही कि यह सभी एक ही लेखनी की उपज हैं।

पुस्तक का नामकरण—जो लिखना पड़ा—लेखक की किसी मजबूरी की ओर संकेत करता है। लेखक की धारणा है कि जब जब कोई बिना अन्दरवाले की ओर से मजबूर हुए कुछ भी लिखता है तब तब वह लिखना नहीं होता, कागज काले करना ही होता है। इन पंक्तियों के लेखक को संतोष है कि इन निबन्धों में कहीं भी कागज काले नहीं किये गये हैं।

साहित्य-निकुंज ने "तथागत" के प्रकाशन के बाद "जो लिखना पड़ा" को ही हाथ लगाया। आशा और प्रयत्न था कि यथाशीघ्र प्रकाशित हो जाय, किन्तु "प्रेस के भूत"—बिचारा यूँ ही बदनाम हो गया—की कृपा से जब "लबे-बाम" की जगह "लबे जाम" (पृष्ठ ३) और "नाखुदा" की जगह "न खुदा" (पृ० ३) और तो और "बारसाल" की जगह "बनारस" ही सोहावरदी के चुनाव-क्षेत्र में जा मिला (पृ० २९) तो फिर प्रूफों को प्रयाग से वर्धा मँगाने की व्यवस्था करनी ही पड़ी। प्रूफों के आने-जाने में छपाई में विलंब हुआ, यही अफसोस है, किन्तु "प्रेस के भूत" की भूलों में कुछ न कुछ कमी हुई ही होगी, यही सन्तोष है।

पुस्तक 'जो न भूल सका' की तरह अपनाई जाएगी—इसी की आशा है, और इसी लिये यह पाठकों के हाथ में है भी। अन्यथा कदापि न होती।

मित्रों—परिचित अपरिचित सभी पाठकों—के सुझाओं का हार्दिक स्वागत।

सत्यनारायण कुटीर
हिन्दी साहित्य सम्मेलन

आनन्द कौसल्यायन

मेरी पढ़ाई

आत्मचर्चा के नाम पर आदमी प्रायः आत्म-प्रशंसा ही करता है। इसीलिए कदाचित् साधु-संन्यासियों के लिये आत्म-चर्चा वर्जित है; तो भी मैं यह लिखने ही लगा हूँ।

सन् १९२१ के असहयोग-आन्दोलन में हमारे कालेज से केवल दो विद्यार्थियों ने असहयोग किया था, जिनमें एक इन पंक्तियों का लेखक था। लगभग डेढ़-दो वर्ष गांधी जी का झंडा उठाए गाँव-गाँव घूमता रहा। एक समय था जब मुझे हमारे जिले की डिस्ट्रिक्ट कांग्रेस कमेटी की ओर से गाँव में जाने और व्याख्यान देने को मना कर दिया गया था। एक एक कर बहुत लोग पकड़े जा चुके थे। बची-खुची थोड़ी-सी सेना को सुरक्षित करने की नीति अपनाई गई थी। मुझे दिन भर प्रायः अपने जिले के आफिस में रहना पड़ता और निकम्मा।

एक दिन शाम को लाहौर के एक पंडित जी के व्याख्यान की व्यवस्था करनी थी। सौभाग्य से उनका नाम भी याद है—पं० रामगोपाल जी। आप आर्य-स्वराज्य सभा की ओर से व्याख्यान देने आए थे। मुझे याद है, आपने दक्षिण-भारत में अछूतों की दुर्दशा का बड़ा ही दर्दनाक चित्र खींचा था। उससे पहले मुझे यह नहीं मालूम था कि अपने ही देश में ऐसी सड़कें और तालाब हैं, जिन पर पशु चल सकते हैं, नहा सकते हैं, किन्तु आदमियों का एक ऐसा वर्ग है जो न उन पर चल सकता है, न उनमें स्नान कर सकता है। मैं नीचे से ऊपर तक काँप गया। ऐसी हृदय-विदारक जानकारी देनेवाले पंडित जी के प्रति मेरे मन में एक आदर का भाव पैदा हो गया। धन्य हैं ये पंडित जी, जो ऐसे मनुष्य-नामधारी पशुओं से भी गये-बीते जीवों के साथ इतनी सहानुभूति रखते हैं!

व्याख्यान के बाद मुझे और मेरे कुछ साथियों को उन्हें स्टेशन पर छोड़ आना था। गाड़ी चलने लगी तो मैं डिब्बे से नहीं उतरा। साथियों ने आवाज दी। मैंने कहा—"मैं अगले स्टेशन से वापस लौट आऊँगा।" बिना किसी की जानकारी के मैंने अगले स्टेशन तक का टिकट ले लिया था।

चलती गाड़ी में मैंने अपनी तब तक की पढ़ाई, असहयोग और वर्तमान निकम्मेपन की बात कही। शास्त्री जी ने कहा—"जब तक आदमी अच्छी तरह से पढ़ा-लिखा न हो तब तक न कहीं उसकी कुछ कद्र ही होती है, न वह कुछ कर ही सकता है। तुम्हें चाहिये कि और पढ़ो।" जिस कालेज में असहयोग कर चुका था, उसी में लौट जाना असम्भव था। उन्होंने सुझाया कि लाहौर में एक राष्ट्रीय महाविद्यालय खुला है। मैं वहाँ पढ़ने जा सकता हूँ।

स्टेशन आ गया। गाड़ी चली गई। मैं दूसरे दिन सात मील पैदल चलकर वापस आया।

अब मैं लाहौर जाकर पढ़ने की चिन्ता करने लगा। इस युग की पढ़ाई एक सौदा है, जिसे पैसेवाले ही खरीद सकते हैं; लेकिन ऐसा सौदा जिसे बहुधा पैसेवाले भी नहीं खरीद सकते। मेरे पास पैसा न था तो भी मैंने जिस-तिससे अपने पढ़ने के संकल्प की चर्चा आरम्भ की। एक लालाजी ने, जो मेरे स्वर्गीय पिताजी के प्रति विशेष श्रद्धावान् थे, मुझे लाहौर जाकर पढ़ने के लिये उत्साहित किया और कहा कि १०) मासिक वे दिया करेंगे। मेरे मन में आशा का अंकुर ही नहीं, पूरा पौधा उग आया। मैंने कहा—"लेकिन १०) रुपये तो काफी न होंगे। उतने में कैसे चलेगा?"

"शेष भी हो ही जायगा।"

मैं प्रसन्न-वदन अपने आफिस में लौटा। दो दिन तक तैयारी करता रहा। तीसरे दिन शाम को उन लाला जी से बिदा लेने गया और बिदा के साथ लालाजी ने दो महीने के लिये २०) रुपये दे दिये।

"२० रु० में तो एक महीना मुशकिल से चलेगा।"

"तो कुछ और व्यवस्था कर लो।"

"आपने कहा था कि शेष भी हो ही जायगा।"

"हाँ तो मेरा मतलब यह था कि १०) मासिक की व्यवस्था मैंने कर दी है, शेष भी कहीं न कहीं से हो ही जायगा।"

यह अपना ही देश है, जहाँ जीवन-निर्वाह का माप-दण्ड इतना नीचा है कि हम दस और बीस मासिक में कालेज की पढ़ाई की बात सोचते हैं, किन्तु मेरी समझ में जो २०) की व्यवस्था हो गई थी, वह भी १०) की ही रह गई। मैं लाला जी को बिना कुछ कहे चला आया और अपने आफिस में आकर औंध-मुँह लेट गया। मैं गुनगुना रहा था :—

किस्मत की खूबी देखिये,
टूटी कहाँ कमन्द।

दो चार हाथ जब कि,
लबे आम रह गया ॥

न जाने कितनी बार यह शेर गुनगुनाया होगा। यदि उस रात थोड़ा बहुत रो भी लिया होऊँ तो भी कोई आश्चर्य नहीं। प्राप्त वस्तु की हानि से बढ़कर अप्राप्त की आशा का पूरा न होना दुःखकर होता है। दूसरे दिन मैंने अपनी जिला कमेटी के अध्यक्ष से, जिनका नाम अब भूल ही गया हूँ, सारा माजरा कहा। उन्होंने एक प्रश्न पूछा :—

"यदि इन लालाजी की सहायता के भरोसे तुम लाहौर चले जाते और वहाँ जाने पर तुम्हें पता लगता कि वह आधी ही सहायता कर सकेंगे तब क्या होता ?"

"तब तो ईश्वर का भरोसा था, तब जो होता देख लेता।"

"तो अब तुम्हारा 'ईश्वर' कहाँ चला गया है, अब भी क्यों नहीं चले जाते ?'

बात दिल को लग गई। मैं अपने आफिस लौट आया और उस रात एक दूसरा शेर गुनगुनाता रहा :—

अहसान न खुदा के,
उठाए मेरी बला।
किश्ती खुदा पै छोड़ दूं,
लंगर को तोड़ दूं,

मैंने लालाजी से २०) लिये और उनके साथ लगभग २४) और जोड़-बटोर कर ४४) कर लिये। इन ४४) को लेकर मैं पढ़ाई के लिये निकला। पूरे दो वर्ष की पढ़ाई के बाद जब मैं राष्ट्रीय महाविद्यालय का स्नातक हो चुकने पर अपने एक घनिष्ठ मित्र के साथ हरद्वार गया तो उस समय भी मेरे पास ४४) थे। यह ४४) पहले ४४) के साथ तुक में तुक मिलाना नहीं है। बस ४४) ही थे।

पढ़ते समय अर्थ की व्यवस्था के लिये मुझे कुछ न कुछ करते ही रहना पड़ा। छात्र-वृत्ति और ट्यूशन का सहारा तो प्रायः सभी साधनहीन विद्यार्थियों को लेना ही पड़ता है। मैंने तीन और प्रयत्न किए थे—दो में असफल रहा, एक में आंशिक तौर पर सफल।

पहला प्रयत्न था उर्दू-अखबारों की किताबत का। उर्दू की लीथो छपाई हिन्दी या अन्य भाषाओं की तरह अक्षरों का कम्पोज करके नहीं होती। कुछ लोग, जिन्हें सुन्दर अक्षर लिखने का अभ्यास होता है और जो 'कातिब'

कहलाते हैं, एक तरह के पीले कागज पर खास स्याही से लिख देते हैं और फिर उस कागज की छाप पत्थर विशेष पर ले ली जाती है और उसी से सारी छपाई होती है। मैंने 'कातिब' बनने की कोशिश की—किन्तु यह मुझसे पार नहीं लगा।

दूसरा प्रयत्न अपने एक मित्र के साथ मिल कर एक प्रकाशक की एक पुस्तक का अनुवाद था। मैं कुछ उर्दू पढ़-लिख लेता था और मेरे मित्र श्री धर्मेन्द्रनाथ जी अच्छी हिन्दी। पुस्तक १०० पृष्ठों की रही होगी। दोनों ने मिल कर अनुवाद कर दिया। मन में सोचा था, ५०) मिलेंगे और २५) हिस्से में आयेंगे। किन्तु वैदिक पुस्तकालय के उन महाशय ने हमें कानी कौड़ी भी नहीं दी। कुछ दिनों तक तो आज-कल करते रहे, उसके बाद बोले—"हमें पुस्तक छपवानी नहीं है। चाहो तो अपना अनुवाद ले जाओ।"

हम लोग अनुवाद लेकर क्या करते? हमें तो पैसे चाहिये थे। और तब तक इतनी तमीज़ नहीं थी कि एक प्रकाशक न छापे तो किसी दूसरे प्रकाशक को देकर भी कुछ पैसे खरे किये जा सकते हैं। हमें उस पुस्तक विशेष के प्रकाशन से कुछ लेना देना भी नहीं था। हम तो मजदूर अनुवादक थे। हमें अपनी मजदूरी नहीं मिली। पुस्तक का नाम 'दिव्य जीवन' था। हमने ऐसे 'दिव्य जीवन' को वैदिक पुस्तकालय के अध्यक्ष महाशय...के पास ही रहने दिया।

तीसरा प्रयत्न अखबार बेचने का था। लाहौर में उन दिनों भी आज की ही तरह उर्दू अखबारों का जोर था। आज 'मिलाप' आदि हिन्दी पत्र अपने पैरों पर खड़े हैं। उन दिनों तो उर्दू ही उर्दू का बोलबाला था। 'वन्देमातरम', 'प्रताप' और मिलाप' सभी के अंक एक आने को बिकते थे। मैं कालेज की पढ़ाई समाप्त कर इन समाचारपत्रों के कार्यालयों में चला जाता। तीन पैसे में एक कापी के हिसाब से पचास-सौ कापियाँ ले आता। उसके बाद लाहौर की सड़कों पर चिल्ला-चिल्ला कर अखबार बेचना होता था। मुझे याद है, पहले दिन मेरी आवाज ही न निकलती थी। तब एक सुनसान गली में जाकर जहाँ कोई देखता न था, दो तीन बार चिल्ला कर अपनी लाज-शर्म को दूर किया था। किन्तु मैं अधिक चिल्लाता न था। जहाँ कोई सूट-बूटवाला दिखाई देता, मैं जाकर शिष्ट अंग्रेजी में बड़ी नम्रता के साथ धीरे से उर्दू अखबार खरीदने के लिये कहता। मेरा अखबार बिक ही जाता। राष्ट्रभाषा का लाख प्रचार होने पर भी देखता हूँ, अंग्रेजी-राज्य की बदौलत अंग्रेजी का यह प्रभाव आज तक बना है—हमारी राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस तक में। यदि पचास अखबार बिक

जाते तो दो-ढाई घंटे में आठ-बारह आने पैसे कमा करके बोर्डिंग हाउस लौट आता। अखबारवाले मेरे साथ यह रियायत करते थे कि जो अखबार मैं न बेच पाता, वे दूसरे दिन उन्हें वापिस ले लेते थे। इस अखबार बेचने के व्यवसाय में एक ही घाटा था। मैं शरीर से विशेष सशक्त न था। थक जाता तो रात को पढ़ने में कठिनाई होती। आज जब देखता हूँ कि लेखकों और अनुवादकों को तो १० प्रतिशत और १५ प्रतिशत रायल्टी पर टरकाया जाता है और पुस्तक-विक्रेताओं को पचास प्रतिशत कमीशन दिया जाता है तो मुझे अपने वे दिन याद आ जाते हैं, जब 'दिव्य जीवन' का अनुवाद करके कानी कौड़ी न पा सका था, किन्तु अखबार लेकर रोज शाम को कम से कम बारह आने तो कमा ही लेता था।

लाहौर में पढ़ाई के दिनों में मुझे अर्थ के लिए थोड़ा परिश्रम तो अवश्य करना पड़ा, किन्तु अर्थकष्ट बिलकुल नहीं पड़ा।

क्या मैं मानूं कि ईश्वर ने मेरी मदद की? पिछले सत्रह वर्षों से ईश्वर को मेरे मानसिक चिन्तन में कोई जगह नहीं। किन्तु एक बात जानता हूँ और मानता हूँ कि हम जीवन-रूपी सड़क पर एकदम बनिये का हिसाब-किताब लगाकर नहीं चल सकते। जो चलते हैं, वे घाटे में रहते हैं और जो आज से २३ वर्ष पूर्व के उस विद्यार्थी की तरह निकल पड़ते हैं, इस श्रद्धा के साथ कि कहीं न कहीं कुछ होगा ही—वे नफे में रहते हैं।

इस श्रद्धा को भले ही आप 'ईश्वर-विश्वास' का नाम दें, मुझे आपत्ति नहीं।

मैं स्वयं उसे 'मानव का मानव के प्रति विश्वास' कहना पसन्द करूँगा।

भंगी-बस्ती में गांधी-प्रार्थना

"आज गांधीजी ने सवा पाँच बजे मिलने का समय दिया है, आप भी चलेंगे ?"

बापू का समय बहुत ही मूल्यवान है। मुझे, उनका एक भी मिनिट व्यर्थ खर्च हो—यह कभी भी अच्छा नहीं लगा। एशियाई बौद्ध-सम्मेलन में आगत भिक्षुओं का साथ देने के लिये मैं भी साथ हो लिया।

लोग समय से पहले न जाना चाहते थे, ठीक समय पर पहुँचना चाहते थे। परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे चलनेवाली भिक्षु-मण्डली समय से देर करके पहुँची। मैंने उन्हें रास्ते में ही कह दिया—अब जाना व्यर्थ है। गान्धी जी की 'मुलाकात' रूपी गाड़ी ठीक समय पर छूट जाती है। वह किसी की प्रतीक्षा नहीं करती। अब बापू दूसरे काम में लग गये होंगे।

भंगी-बस्ती में पहुँचने पर मालूम हुआ कि बापू यहाँ हैं ही नहीं। वे वाइसराय से 'मुलाकात' करने गये हैं। भिक्षु-मण्डली को बड़ी निराशा हुई।

सिंहल के भिक्षु राहुल, जो गांधीजी के बड़े भक्त हैं, बोले—"गान्धीजी नहीं हैं, तो मैं उनके उठने-बैठने, रहने की जगह देखना चाहूँगा।" एक परिचित भाई से प्रार्थना करने पर उनकी यह इच्छा पूरी हो सकी। 'भंगी-बस्ती' कहने पर हमारे मन में गन्दगी तथा दरिद्रता की जो एक घिनौनी तसवीर खिंच जाती है, वैसा वहाँ कुछ भी नहीं है। बापू की सेवाग्राम की कुटिया इस भंगी-बस्ती के निवास की अपेक्षा भारतीय दरिद्रता का कहीं अधिक प्रतिनिधित्व करती है। एक अच्छा बड़ा हाल है, जिसमें बापू की खादी की गद्दीवाली बैठने की लम्बी चौकी है। उसके चारों ओर दरियाँ और गलीचे हैं। साथ का कमरा बापू की 'मालिश' के लिये है और उसके साथ का एक तीसरा कमरा बापू का स्नानागार। भिक्षु राहुल ने थोड़े से व्यंग से कहा—आपके देश की यह भंगी-बस्ती है! हमारे यहाँ तो बाबुओं को यह सब नसीब नहीं होता! मैंने कहा—भंगी-बस्ती ही है; किन्तु यह नई दिल्ली की भंगी-बस्ती है!

हम इधर यह सब कह-सुन ही रहे थे—उधर ठीक साढ़े पाँच बजे

प्रार्थना आरम्भ करने के लिये 'बापू' आ पहुँचे। हम सब उनकी पीठ की ओर थे। मैंने साथियों को बताया कि उधर गान्धी जी हैं और इधर फ्रान्टियर के गान्धी अर्थात् अब्दुल गफ्फार खाँ बैठे हैं।

'नमो हो रें ओ क्यो...' यह अमिताभ को नमस्कार है जो जापानी-बौद्धों की प्रार्थना का आरम्भ है। उसी से गान्धी जी की प्रार्थना आरम्भ हुई।

उसके बाद 'ईशावास्यमिदं...।' और उसके बाद 'स्थितप्रज्ञस्य' का भाषा...गीता के दूसरे अध्याय के अठारह श्लोक। वे सचमुच ऐसे हैं कि किसी की भी 'प्रार्थना' का अंश बन सकते हैं और 'निःश्रेयस' की ओर उसे ले जाते ही हैं।

अब कुरान की आयत की बारी आई। लेकिन यह क्या! पहला शब्द मुँह से निकलते ही हल्ला शुरू हो गया। गांधीजी की प्रार्थना अपनी शांति के लिये प्रसिद्ध है। भिक्षुओं ने पूछा क्या मामला है? नजदीक बढ़कर समझने का प्रयत्न करने से मालूम हुआ कि एक भाई को उस वाल्मीकि मंदिर के अहाते में बैठकर कुरान की आयत पढ़ी जाने पर आपत्ति है। वह कह रहा है, यह कुरान की आयत यहाँ न पढ़ी जाय। और यह क्या? यह तो खासा शास्त्रार्थ शुरू हो गया। गांधी जी उसे माईक्रोफोन पर कह रहे हैं—"तुम्हारी यह हरकत 'वहशियाना' है। तुम्हें नहीं सुनना हो तो तुम चले जाओ।"

और उधर गुस्से से तमतमाया हुआ वह तरुण भी तुर्की-बतुर्की कह रहा है—"आप ही यहाँ से क्यों नहीं चले जाते?" यूं बच्चों को 'बापू' के साथ लड़ने का हक है। लेकिन यह तो 'अविवेक' की हद हो गई।

जब स्वयं-सेवकों ने देखा कि उसकी जबान अधिक दराज होती जा रही है, और जब उन्हें, 'बापू' के लाख समझाने पर भी उसमें कहीं कुछ 'हृदय-परिवर्तन' होता नहीं दिखाई दिया, तो वह उसे 'मुक्का-मुक्की' करते हुए खींच ले गये और भंगी-बस्ती की सीमा से बाहर कर आये।

'बापू' को उस लड़के का पिटना बहुत बुरा लगा। किन्तु जब 'लात का भूत बात से न माने' तो कोई भी क्या करे।

लड़के के बाहर चले जाने पर ही प्रार्थना में शान्ति हुई।

× × ×

हमें छः बजे एक मीटिंग में जाना था सो भी इस घटना के बाद वहाँ से शीघ्र न हट सके। 'बापू' ने आगे की 'प्रार्थना' रोक दी। उन्होंने कहा—अरबी की आयतें छोड़ कर शेष 'प्रार्थना' नहीं हो सकती। भजन भी बन्द। अन्त में होने वाली 'राम-धुन' भी बन्द।

अब बापू का 'प्रवचन' आरम्भ हुआ। 'प्रवचन' क्या था ? शान्त सरोवर में वह लड़का जो पत्थर फेंक गया था, उससे उठनेवाली स्वाभाविक लहरें थीं। 'बापू' पर इस घटना की जो प्रतिक्रिया हो, उनके अनुरूप ही होगी, किन्तु सामान्य जनों के लिये भी क्या यह कोई प्रश्न उपस्थित नहीं करती ?

'बापू' आज से नहीं बरसों से यह 'प्रार्थना' कर-करा रहे हैं। मैं नहीं जानता कि यह अरबी-आयतें उसमें कब से शामिल हैं; किन्तु काफी समय से हैं। इसी वाल्मीकि-मन्दिर के अहाते में यह प्रार्थना—यही अरबी आयतवाली प्रार्थना—न जाने कितनी बार हुई। तब आज ही उस तरुण को क्या सूझी ? और क्यों सूझी ? यदि यह जान-बूझकर किसी के इशारे पर की गई शरारत नहीं है, तो यह छोटी सी घटना उस तिनके की तरह है, जो बताता है हवा का रुख किधर है।

पहला प्रश्न है—आखिर यह 'प्रार्थना' क्यों ? बापू का कहना है कि वे भोजन के बिना जी सकते हैं, प्रार्थना के बिना नहीं। बात गले उतरती है। साधक के लिये 'प्रार्थना' उपयोगी है उतनी ही जितनी रोगी के लिये दवा, लेकिन क्या यह अनिवार्य है कि रोगी हजार दो हजार आदमियों को साथ लेकर ही दवा ग्रहण करे ?

निस्सन्देह हजार हजार आदमियों को एक साथ टीके भी लगाये ही जाते हैं तो भी एक आदमी के विकास की परिस्थिति और आवश्यकता दूसरे से इतनी अधिक भिन्न होती है कि इन पंक्तियों के लेखक की दृष्टि में तो सामूहिक प्रार्थना की अपेक्षा 'व्यक्तिगत प्रार्थना' ही अधिक ठीक लगती है।

किन्तु गांधीजी की प्रार्थना में 'रामधुन' का कीर्तन भी रहता है। वह तो सामुहिक ही हो सकता है। पक्ष-विशेष में किन्हीं भावनाओं को 'बलवती' करने के लिये 'रामधुन' ही एकमात्र साधन है। आज के 'जयहिन्द' और 'इन्कलाब-जिन्दाबाद' 'रामधुन' की ही तरह के नवीन आविष्कार हैं।

जीवन में सामुहिक प्रार्थना का भी उपयोग है ही। हम उसे मान लें। मुसलमानों की नमाज सामूहिक प्रार्थना ही है। बौद्धों का 'पंच शील ग्रहण' सामूहिक प्रार्थना ही है। लेकिन गान्धीजी की 'सामूहिक प्रार्थना' तो है भी अनोखी। उसके आरम्भ में ही 'नमो हो रें क्यो...' है। भला किसी की भी समझ में न आनेवाले 'शब्द-समूह का प्रयोजन ? सेवाग्राम में एक जापानी भिक्षु रहते थे जिनका आश्रम का नाम था केशव भाई। वह अधिकांश समय ढोल बजा-बजा कर 'नमो हो रें क्यो...' कहते थे। युद्ध के दिनों में सरकार ने उन्हें अपना मेहमान बना लिया। बाद में वे जापान भेज दिये गये।' वे

आश्रम में थे तो वे ही प्रार्थना के आरम्भ में 'नमो हो ३ रें क्यो'...कहा करते थे। उनके चले जाने पर भी बापू ने केशव भाई की याद में उनका 'नमो हो ३ रें क्यो...' प्रार्थना में रहने दिया।

उस लड़के को 'नमो हो ३ रें क्यो' पर कोई आपत्ति नहीं।

उपनिषद, गीता तो खैर 'प्रार्थना' के परम्परागत अंग हैं। उस तरुण को 'प्रार्थना' में 'अरबी—आयत' शामिल रहने पर ही आपत्ति थी। यदि उसकी 'आपत्ति' को विचार की कसौटी पर रगड़ा जाय, तो इसमें तनिक सन्देह नहीं कि वह काफूर की तरह उड़ जायगी।

तो भी, प्रश्न है कि 'बापू' तो अपने को हिंदू ही नहीं 'सनातनी-हिंदू' कहते हैं। पूज्य मालवीय जी 'सनातनी-हिंदू' थे। क्या उनकी सन्ध्या में भी 'अरबी-आयत' स्थान पा सकती थी। निश्चय से नहीं। तब सामान्य आदमी का सिर चकरा ही जाता है कि पूज्य बापूजी 'सनातनी-हिन्दू' और पूज्य मालवीयजी भी 'सनातनी-हिन्दू'! बात यह है कि बापू ने प्रायः हर मामले में 'पुरानी-बोतल' में 'नई शराब' डाली है। शब्द पुराने, अर्थ नये। यदि पुराने शब्दों का पुराने ही अर्थों में प्रयोग किया जाय तो क्या अधिक अच्छा न होगा? अर्थ नये होने पर पुराने ही शब्दों को पकड़े रहने में एक लाभ दिखाई देता है। शब्दों की माया में उलझे रहनेवाले लोग अटके रहते हैं। किन्तु, मन कहता है जब नये अर्थों के लिये नये शब्दों की कमी नहीं तो 'पुराने शब्दों' का ही आग्रह रखकर ख्वाहमख्वाह भ्रम क्यों पैदा होने दिया जाय? क्या यह नहीं हो सकता कि जब 'बापू' 'सनातनी-हिंदू' की जो जनता-सम्मत चर्य्या है, उसमें श्रद्धा नहीं रखते तो अपनी हर तरह से मौलिक चर्य्याओं के लिये नई शब्दावलि का ही प्रयोग करें? 'बापू' का शास्त्र उनका अपना जीवन है। उन्हें अपनी चर्य्या को शास्त्र-सम्मत सिद्ध करने की क्या पड़ी?

जिस छोटी सी या बड़ी सी घटना के कारण 'बापू' की प्रार्थना आज चिन्ता और चिन्तन का विषय बन गई है, वह घटना आँख से ओझल न हो जाय। क्या उस भाई की आपत्ति ठीक नहीं ही थी? सभी कहेंगे—नहीं प्रार्थना में गड़बड़ी मचानेवाला निंदनीय ही है। लेकिन मैं सोचता हूँ—विद्यार्थी-जीवन में हमने 'राष्ट्रीय' कहलानेवाले अनेक नेताओं को अंग्रेजी बोलने से रोका। क्यों?—इसीलिये न कि उनके अंग्रेजी में बोलने से हमारी 'राष्ट्रीय-भावनाओं' को चोट लगती थी। इसी तरह यदि हिन्दू-प्रार्थना में अरबी आयतें शामिल करने से उस लड़के की धार्मिक भावना को चोट पहुँची हो और वह उसे व्यक्त

करने के लिये 'बापू' की प्रार्थना में बाधक हुआ हो, तब उसके पक्ष में क्या कुछ कहा ही नहीं जा सकता ?

व्यावहारिक प्रश्न यह है कि उस या वैसे लड़के के साथ क्या व्यवहार किया जाना चाहिये था ? पूर्ण 'अहिंसक' पुरुष के पास कोई विरोध रहता ही नहीं—यह एक ऐसा सिद्धान्त है, जिसे यदि असिद्ध नहीं किया जा सकता तो सिद्ध भी नहीं किया जा सकता। इसका बल इसी बात में है कि इसका कभी परीक्षण नहीं हो सकता। थोड़ी देर के लिये ऐसे सिद्धान्त की चर्चा हम छोड़ ही क्यों न दें ?

तब ? तब जो बात सिद्ध है, वह यह है कि हर व्यक्ति में हिंसा भी है, अहिंसा भी है ; द्वेष भी है, मैत्री भी है। हिंसा की हार होने पर अहिंसा की विजय होती देखी जाती है, और क्या अहिंसा की हार होने पर हिंसा की विजय होती नहीं देखी जाती ? बापू की आँखों के सामने ही वह तरुण चपतिया जाकर ही चुप कराया जा सका।

हमारी सम्मति में उस लड़के का व्यवहार अशिष्ट व्यवहार था। 'बापू' ने उसके लिये ठीक ही 'वहशियाना' शब्द का प्रयोग किया। ऐसे अवसरों पर हिंसा-अहिंसा की तात्विक-चर्चा बेकार है। मान लीजिये, 'प्रार्थना' के समय कोई सांड उधर से आ निकलता तब स्वयंसेवक क्या करते ? उसके सींग पकड़कर उसे हटा देते। उसी प्रकार स्वयंसेवकों को चाहिये था कि उस सार्वजनिक स्थान पर यदि कोई उस प्रकार 'प्रार्थना' भंग करता दिखायी दिया था, तो उसका नाटक आरम्भ होते ही उसे रोक देते।

किसी व्यक्ति को कोई अधिकार नहीं कि इस प्रकार हजारों आदमियों की 'प्रार्थना' को गड़बड़ी में डाले।

स्वयंसेवक का कर्तव्य है कि वह न द्वेषवश हिंसक बने, और न ही मोह-वश अहिंसक। उसे चतुर माली की तरह यह जानना चाहिये कि कब पौधे को सींचने की जरूरत है और कब उसे छाँटने की।

भंगी-बस्ती की 'प्रार्थना' की गड़बड़ी बापू के लिये दुःख का विषय हुई, हम सबके लिये लज्जा का।

मैं सोचता हूँ कि उस समय यदि एशिया के कोई प्रतिनिधिगण उस 'प्रार्थना' में रहे होंगे तो उन्होंने हमारी इस अहिंसक अनुशासन-प्रियता से कौन सा पाठ सीखा होगा ?

नोआखाली, पटना और पंजाब की वारदातों के इस युग में यह सारी चर्चा बेकार बाल की खाल उतारना ही तो नहीं है ? नहीं।

यह तो श्रीगणेश है

आल इण्डिया रेडियो की भाषा

हैदराबाद (दक्षिण) से 'प्याम' नाम का एक रोजनामा निकलता है—दैनिक समाचार-पत्र। पत्र 'राष्ट्रीय' है। उसके संस्थापक काजी मुहम्मद अब्दुल गफ्फार हैं, जो शायद हैदराबाद की प्रेमचन्द सोसायटी के भी सभापति हैं।

उस समाचार-पत्र के २० रजबुलमरजब अर्थात् १० जून के अंक में 'तिलिस्मये होशुरबा' शीर्षक से एक अग्र-लेख छपा है। पाठक शीर्षक का अर्थ जानना चाहेंगे। हमें स्वीकार करना चाहिये कि हम उसके अर्थों का केवल अनुमान ही लगा सकते हैं। बम्बई से प्रकाशित उर्दू-हिन्दी कोष भी आजकल अप्राप्य है और हमारा ख्याल है कि उसमें भी यह 'तिलिस्मये होशुरबा' नहीं ही होगा।

इस अग्र-लेख में देश की एकता और अखंडता के बारे में कुछ स्वर्णाक्षरों में लिखी जाने योग्य बातें लिखने के बाद सम्पादक ने लिखा है :—

"आल इण्डिया रेडियो का महकमा जब से सरदार पटेल के मातहत आया है, हम यह महसूस कर रहे हैं कि इसके प्रोग्राम और बल्खसूस इसकी जबान में आये दिन ऐसी हैरत-अंगेज तबदीलियाँ हो रही हैं, जो साफ तौर पर जमाअती तआस्सुब और जानबदाराना जज्बे की आईनावार नजर आती हैं।

"रेडियो का महकमा किसी खास तबके या गिरोह से वाबस्ता नहीं हो सकता। इसकी अफादियत का दायरा हमागीर और इसका मुकाम मजाहब और मिल्लत के इम्तयाजात से बलंद व बरतर होता है।"

तिलिस्मी चक्कर

"आल इण्डिया रेडियो में अब तक जो जबान इस्तेमाल की जाती थी वह मुसल्लमा तौर पर हिन्दुस्तान की वह कौमी जबान थी, जिसे हिन्दु-

मुसलमान इत्तहाद की तनहा यादगार कहा जा सकता है। इस मुशतरका मिरास को आल इण्डिया रेडियो के तिलिस्मी चक्कर में कुछ दिनों से इस तरह कुचला और दबाया जा रहा है कि आज इसका हुलिया कुछ इस कदर बदल गया है कि हमें यक़ीन है कि बाज कांग्रेसी जोमा भी इसकी सूरत को पहिचान नहीं सकते। मिसाल के तौर पर चन्द अलफाज यहाँ दर्ज किये जाते हैं, जो उर्दू के आसान और आमफहम अलफाज की जगह आजकल आल इण्डिया रेडियो से बोले जा रहे हैं :—

१	नरेन्द्र-मंडल	ईवाने वालियाने रियासत
२	विधान	आईन
३	छिपवाँ	खुफिया
४	आलोचना	नुक्ताचीनी
५	मंत्री-मंडल	वजारत
६	स्वागत	इस्तकबाल
८	प्रतिनिधि (परथनिधि ?)	नुमायन्दाह
९	प्रबन्ध	इन्तजाम
१०	राजनीतिक	सियासी नामा-निगार ?

"क्या सरदार पटेल बतायेंगे कि 'वजारत', 'इस्तकबाल', 'नामा-निगार', 'नुमायन्दाह', 'इन्तजाम' वगैरा जैसे आमफहम और रोजमर्राह के इस्तेमाल में मरव्वजाँ अलफाज की जगह 'मंत्री-मंडल,' 'स्वागत', 'समाचारदाता', 'प्रतिनिधि' और 'प्रबन्ध' वगैरा जैसे नामानूस संस्कृत अलफाज को आल इण्डिया रेडियो की जबान में दाखिल फरमाकर, वह जबान जो हिन्दुस्तान के हर गोशे से सुनी जाती है और जो पाकिस्तान, सिखिस्तान, दकिनिस्तान और हर किस्म के 'स्तान' की बंदिशों से आजाद है—क्या कोई खास कौमी और मुल्की खिदमत अंजाम दी जा रही है, या फिर हिन्दुस्तान की तरफ से पाकिस्तान का इन्तकाम लेने के लिये यह तरीका इख्तियार किया जा रहा है ? अगर सरदार पटेल हिन्दुस्तान की कौमीजबान उर्दू या हिन्दुस्तानी को हिन्दुस्तानी हुकूमत की सरकारी जबान बनाना पसन्द नहीं करते और इसके एवज एक रङ्ग-बिरङ्ग की नई नवेली जबान को जन्म देना चाहते हैं, तो साफ-साफ अपने इरादे का ऐलान कर दें।

"चश्मे मा रोशन दिले मा शाद।

"हिन्दुस्तानी का नाम लेकर सारे मुल्क को एक रङ्गीन धोके में मुबतला

रखना बिला शुबा एक ऐसा नागवार तरीका कार है, जिसे हिन्दुस्तान के जम्हूरियत दोस्त अनासर कभी पसन्द नहीं कर सकते।"

'प्याम' का अग्र-लेख यहीं समाप्त नहीं होता और यों ही समाप्त नहीं होता। वह समाप्त होता है थोड़ा और सख्त-सुस्त कह कर ही। लेकिन हम उसे सारा यहाँ नहीं दे रहे हैं।

'प्याम' के सम्पादक ने वही बातें लिखी हैं, जिन्हें कोई भी ऐसा लेखक जो उर्दू को हिन्दुस्तान की कौमी जबान समझने की गलती और देखने की ख्वाहिश रखता है, लिखता है। इसलिये हमने भी यहाँ उन पर थोड़ा विचार करना उचित समझा है। अन्यथा किसी भी समाचार-पत्र का कोई भी संपादक स्वतंत्र है कि जो चाहे लिखे—"मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी",—मुँह है, इसलिये कह लो कि 'हरड़ दस हाथ की होती है, कौन रोक सकता है!

'प्याम' की पहली शिकायत है कि रेडियो में 'हैरत-अंगेज तबदीलियाँ' हो रही हैं। हम नहीं जानते कि क्या 'हैरत-अंगेज तबदीलियाँ' हो रही हैं? पहले भी हमारे पास रेडियोवालों के पत्र अंग्रेजी में आते थे। अब भी अंग्रेजी में आते हैं। हम हिन्दीवाले चिल्ला-चिल्लाकर हार गये कि भारत की सभी प्रान्तीय भाषाओं में जब समाचारों का प्रसार होता है तो हिन्दी में भी समाचारों का प्रसार किया जाय। हिन्दी ने क्या यही अपराध किया है कि वह राष्ट्रभाषा भी है? किन्तु हिन्दुस्तानी के मुहमे मोह में हिन्दीवालों की एक न सुनी गई। इतना हुआ कि समाचारों के साथ-साथ उर्दू-हिन्दी के साहित्यिक प्रोग्रामों में भी हिन्दुस्तानी के लिए जगह बन गई। उर्दूवाले शिकायत का नाटक कर ही सकते हैं। किन्तु वे जानते हैं कि रेडियोवालों की परम्परा में 'उर्दू' का ही दूसरा नाम हिन्दुस्तानी रहा है। इससे वे मन ही मन प्रसन्न हैं।

हमारी शिकायत

'प्याम' ने 'हैरत-अंगेज तबदीलियों' के उदाहरण-स्वरूप दस शब्दों की एक सूची छापी है, जिसके बारे में उसकी शिकायत है कि ऐसे शब्द रेडियो से क्यों बोले जाने शुरू हुए हैं? प्याम' के सम्पादक को मालूम होना चाहिए कि हमारी शिकायत उससे कहीं बड़ी है। और वह यह कि ये और ऐसे दूसरे शब्द आज तक क्यों नहीं बोले जाते रहे हैं।

आल इंडिया रेडियो के प्रोग्रामों में या उसकी भाषा में यदि कहीं कोई परिवर्तन होने जा रहा है तो अधिक से अधिक वह उस हिन्दुस्तानी-बोर्ड

की सिफारिशों के अनुसार ही तो हो सकता है, जिसमें एक उर्दू के प्रतिनिधि श्री हाशमी साहब थे, दूसरे 'हिन्दुस्तानी' के प्रतिनिधि श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल थे और तीसरे थे सम्मेलन के प्रतिनिधि पंडित मौलिचन्द्र जी शर्मा।

सरकार ने कुछ बातों में तो इस बोर्ड के बहुमत तक को स्वीकार नहीं किया है। हमें दुःख है कि 'प्याम' जैसे 'राष्ट्रीय' पत्र ने एक दम शब्दों के प्रयोग पर ही हाय-तोबा मचानी शुरू कर दी है।

लेकिन एक खुशी है कि 'प्याम' की यह सारी शिकायत उसकी 'ला-इल्लमी' पर बनी है, उसका आधार 'प्याम' का अज्ञान है, कुछ जिद नहीं, कुछ द्वेष नहीं।

हिन्दुस्तानी और उर्दू पर्यायवाची

'प्याम' का पहला ख्याल तो यह है कि उर्दू और हिन्दुस्तानी एक ही चीज है। उसने बड़े जोर से कहा ही है—"यदि सरदार पटेल हिन्दुस्तान की कौमी-जबान 'उर्दू' या 'हिन्दुस्तानी' को हिन्दुस्तानी हुकूमत की सरकारी जबान बनाना पसन्द नहीं करते तो साफ-साफ अपने इरादे का ऐलान कर दें।" सरदार पटेल की ऐसी मामूली स्थिति नहीं कि उनकी ओर से कोई दूसरा कुछ ऐलान कर सके। किन्तु राष्ट्रभाषा या कौमी जबान के तुच्छ सेवक के नाते हम भी कह ही सकते हैं कि यदि आप 'हिन्दुस्तानी' को उर्दू का पर्यायवाची समझते हैं (और आपके अपने कथन के मुताबिक आप ऐसा ही समझते हैं) तो उसे अर्थात् 'उर्दू' को हिन्दुस्तान की कौमी जबान बनाने का सरदार पटेल का न कोई इरादा है और न वह ऐसा कर ही सकते हैं। भारतीय भाषाओं की यथार्थ स्थिति, उनकी परस्पर की एकता बड़े से बड़े हाशमी को भी राष्ट्र-भाषा के मामले में उचित बात करने पर मजबूर करेगी।

'प्याम' का दूसरा ख्याल—हम इसे वहम भी कह सकते हैं—यह है कि 'ईवान् वालियाने रियासत' आदि तो 'आमफहम और रोजमर्रा के इस्तेमाल में 'मरवज्जा अलफाज' हैं और 'नरेन्द्र-मंडल' आदि किसी की भी समझ में नहीं आते, वे 'नामानूस संस्कृत अलफाज' हैं। कुछ वर्ष हुए सिंहल देश की एक देवी सारनाथ (बनारस) आई थीं। उन्होंने वहाँ भी सिंहली भाषा बोलनी चाही। जब उन्हें बताया गया कि यहाँ लोग सिंहली भाषा नहीं बोलते तो थोड़ा चिढ़कर बोलीं—"तब क्या बोलते हैं?" उस बेचारी का ख्याल था कि संसार में एक ही भाषा है और वह है सिंहली—सभी जगह समझी और बोली जानेवाली। 'प्याम' के सम्पादक और उनकी

तरह के कुछ लोगों की मानसिक स्थिति, सिंहल की उस बुढ़िया से बहुत मिलती-जुलती है। जिस भाषा से वे परिचित है, वे समझते है कि सारा हिन्दुस्तान उसे समझता है, और जिससे वे स्वयं अपरिचित या कम परिचित हैं, वे समझते हैं कि उसे कोई नहीं समझता। यह उनका खास दोष नहीं। प्रायः सभी का यही हाल है।

किन्तु यदि कोई अंग्रेज कहे कि "मैं कोई भी भारतीय भाषा नहीं समझता, वह नामानूस संस्कृत शब्दों से भरी रहती है," तो हम उससे नम्रता-पूर्वक यही कहेंगे कि "आप थोड़ा कष्ट करके भाषा सीख लें। आपकी सुविधा के लिये भाषा नहीं बदली जा सकती।" उर्दू अपने देश की भाषा है, भाषा की एक शैली है। हम उसे अंग्रेजी की तरह की विदेशी भाषा कहने या समझने की बात भी नहीं सोच सकते; तो भी यदि कोई उर्दू का विद्वान् अपने भारतीय भाषाओं के अज्ञान के कारण उर्दू को ही कौमी-जबान समझता है तो वह स्वतन्त्र है। उसके अपने समझने मात्र से 'उर्दू' कौमी जबान बन नहीं सकती।

हिमालय और सतपुरा में भी उर्दू !

लेनिनग्राड से एक प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् ने कुछ ही समय पहले लिखा था—"पहिले तो भारतीय समाचारों का कोई पता नहीं, किन्तु पिछले जून में रेडियो ले लिया। इसलिये दिल्ली बराबर सुनता हूँ। उससे यह पता लगता है कि अम्बाला, पूर्णिया, हिमालय, सतपुरा के बीच सिर्फ उर्दू बोली जाती है।" यह कितनी गलत तस्वीर है, जो भारतीय रेडियो-द्वारा भारतीय भाषाओं की दुनिया के सामने उपस्थित की जाती है।

हम यहाँ 'प्याम' और उसकी तरह सोचनेवाले व्यक्तियों तथा संस्थाओं के सामने एक सीधा-सादा प्रस्ताव रखते हैं। 'प्याम' का ख्याल है कि 'ईवान् वालियाने रियासत' आदि शब्द तो सबकी समझ में आते हैं और 'नरेन्द्र-मंडल' आदि नहीं। यदि 'सबकी' से मतलब केवल उर्दू पढ़े-लिखों से है तब दूसरी बात है। किन्तु यदि 'सबकी' से मतलब उन सब हिन्दुस्तानियों से, उन सब भारतीयों से है, जो अंग्रेजी के स्थान पर राष्ट्रभाषा या कौमी जबान का प्रयोग करते हैं तथा अधिकाधिक करना चाहते हैं तो 'प्याम' के इन्हीं दस शब्दों को लेकर परीक्षा की जा सकती है। आज सभी प्रान्तों में राष्ट्रभाषा का प्रचार हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी तीनों नामों से हो रहा है। हम सभी प्रान्तों की प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य को लें। उन भाषाओं के

साहित्य में देखें कि 'ईवान् वालियाने रियासत' की जात के कितने शब्द किस भाषा में हैं? हम उन सभी शब्दों को रेडियो की भाषा में स्वीकार करने के लिए तैयार हैं, जिनका व्यवहार 'राष्ट्रभाषा' में ही नहीं, अन्य प्रान्तीय-भाषाओं में भी होता हो। आखिर राष्ट्र-भाषा या कौमी जबान राष्ट्र भर के लोगों के लिये है, कुछ हिन्दीवालों और उर्दूवालों के ही लिए नहीं। साहित्य की बात जाने दें। हम इसके लिए भी तैयार हैं कि बंगला, गुजराती, मराठी आदि अन्य प्रान्तीय भाषाओं के रेडियो स्टेशनों से भी इन दसों शब्दों में से जिन शब्दों और जिस तरह के शब्दों का प्रयोग अधिक होता है, उन्हीं और उसी तरह के शब्दों का अपनी राष्ट्र-भाषा या कौमी जबान में अधिक प्रयोग हो।

'श्याम' का कहना है कि आल इण्डिया रेडियो की भाषा सब प्रकार के 'स्तानों' की बन्दिशों से आजाद है। यदि ऐसा है तो 'उर्दू' को कौमी जबान मानने और मनवाने का प्रयत्न करनेवालों को हमारे इस व्यावहारिक प्रस्ताव को स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

ये दिन और वे दिन

उस दिन हिन्दी की चर्चा के सिलसिले में जब डा० सैय्यद महमूद ने मुझे हिन्दू-मुस्लिम-एकता का उपदेश दिया, तो मुझसे न रहा गया। मैं बोला डा० साहब, मुझे हिन्दू-मुस्लिम-एकता का उपदेश न दें। मैं उस बाप का बेटा हूँ, जो सिक्खों के गुरुद्वारे में गुरुग्रन्थसाहब की कथा करते थे, हिन्दुओं के 'सत्संग' में धर्मोपदेश दिया करते थे और मुसलमान उन्हें अपने मौलूदशरीफ़ में भी ले जाते थे।

कहावत है कि बेटे पर माता का संस्कार अधिक पड़ता है, लेकिन मुझे तो लगता है कि मैं जो कुछ हूँ, उसमें मेरे पूज्य पिता जी का ही अंश अधिक है। वे कोई 'बड़े' आदमी न थे, वे थे अत्यन्त सामान्य वेतन पानेवाले एक मामूली स्कूल-मास्टर। हाईस्कूल में अध्यापक होते हुए भी उन्होंने शायद ही कभी प्राइमरी दर्जों से ऊपर की किसी क्लास को पढ़ाया हो। हाँ, 'धर्मोपदेश' की बात दूसरी है। उसके लिये वे मैट्रिक क्लास के भी अध्यापक थे।

जिस छोटे से शहर या शहर की छावनी—अम्बाला छावनी—में वे रहते थे, वहाँ एक हिन्दू-मोहम्मडन नाम का हाईस्कूल था। उस अजीब नाम के अस्तित्व में आने का यही कारण सुना गया था कि स्थानीय ईसाई स्कूल में किसी लड़के का धर्मपरिवर्तन करने का प्रयत्न किया गया था। बस इसी से चिढ़कर हिन्दुओं और मुसलमानों ने मिलकर इस हिन्दू-मोहम्मडन हाईस्कूल की बुनियाद डाली थी। पिताजी उसी स्कूल में पढ़ाते थे और मैं पढ़ता था।

बहुत सी बातों के बीच में न जाने यह एक छोटी सी बात क्यों मन में बार-बार आ रही है। हमारे घर में सीधी सिली-सिलाई कुछ एक ही तरह की कई टोपियाँ थीं। फिर भी पिताजी बीच-बीच में उसी तरह की एकाध टोपी खरीद लाया करते थे। पता लगा कि एक गरीब मुसलमान है, जो टोपी बनाकर बेचता है और तीन आने में बेचता है, न कम में न ज्यादा में, और वह बना पाता है दिन भर में एक ही टोपी। पिताजी उसी गरीब मुसलमान की 'मदद' करने के लिये जरूरत बिना जरूरत टोपी खरीद लाया करते थे।

और किसी को मैं भूल भी जाऊँ, अल्लादाद खाँ को कभी भूलनेवाला

नहीं। वह एक भटियारा था—डबल रोटी बनाकर बेचनेवाला। लम्बा-चौड़ा कद। सच्चा मुसलमान।

आज क्या ईद है? एक हिन्दू लड़के के सिर पर रखी हुई मिठाई चली आ रही है। अल्लादाद खाँ ने भिजवाई है। आज क्या दिवाली है? हमारे घर से मिठाई चल जा रही है। अल्लादाद खाँ के यहाँ दे आओ। अल्लादाद खाँ हमारे 'मजहब' का ख्याल कर 'हिन्दू' लड़के के सिर पर मिठाई लाते थे। अल्लादाद खाँ 'धर्म' में हमसे बड़े थे।

हम भी जो अल्लादाद खाँ के यहाँ की बनी मिठाई न खा सकते थे, उसमें हमारा 'मजहब' ही बाधक था। वरना खतरे के वक्त मैं समझता हूँ कि मैं सबसे अधिक अल्लादाद खाँ के घर में ही महफूज रहता। एक बार छावनी में बलवा होने पर मैं उन्हीं के घर में छिपा भी था—वैसा ही सुरक्षित जैसे अपने घर में।

और अल्लादाद खाँ को जो मैं भूल नहीं सकता, वह तो दूसरा ही कारण है। अम्बाला छावनी में प्रति 'शनिवार' और 'मंगलवार' को एक 'सत्संग' होता था। 'शनिवार' के 'सत्संग' की अपेक्षा 'मंगलवार' का विशेषः उस दिन सत्संग में प्रसाद बँटता था। 'शनिवार' को भी 'मंगलवार' को भी रामायण की कथा होती; भजन होते और पिता जी के उपदेश होते। कभी-कभी पिता जी पर 'वजद' तारी हो जाता था—भावावेश की वह पराकाष्ठा जिसमें आदमी अपनी सुध-बुध भूल जाता है। मेरी आयु थोड़ी थी। इन बातों को तब क्या समझता, अब भी कुछ नहीं समझ पाता हूँ। 'सत्संग' का 'प्रसाद' ही सबसे अधिक समझ में आता था। पिता जी उस 'सत्संग' के विशिष्ट व्यक्ति थे, इसलिये मुझे कभी-कभी इतना अधिक प्रसाद मिलता कि मेरे हाथ ही में न समाता। पास-पड़ोसवाले भी अपना 'प्रसाद' मेरे ही हाथ में रखकर मुझ पर अपना स्नेह और पिता जी पर अपनी 'भक्ति' एक साथ व्यक्त करते। अल्लादाद खाँ की बात ही दूसरी थी। मैं सो जाता तो वह मुझे अपने कन्धे पर उठा लेते। 'सत्संग' की समाप्ति पर अनेक लोग पिता जी को घर तक पहुँचाकर तब अपने घर जाते। उनका भी आधा रास्ता कट जाता था। लेकिन 'अल्लादाद खाँ' मुझ सोते हुए को घर तक पहुँचाने भर के लिये पिताजी के साथ-साथ आते।

बच्चों को लोग मूर्ख समझते हैं। अपनी आयु के हिसाब से उनमें कम चतुराई नहीं होती। सो मुझमें भी थी। 'सत्संग' में जिस दिन मुझे नींद न भी आती तो भी 'सत्संग' की समाप्ति से कुछ ही देर पहले मैं सो ही जाता।

न खोता तो घर तक पैदल चलकर जाना होता। कभी-कभी अल्लादाद खाँ के कन्धे पर लटके-लटके भी आँख खुल जाती। मैं यही मनाता था कि कोई देख न ले। कोई देख लेता तो 'जाग रहा है' कहकर मैं तुरन्त धरती पर उतार दिया जाता। इसी डर से मैं कभी-कभी आँख खुल जाने पर किसी के देख लेने से पूर्व फिर मूँद लेता। आँखें खुली रखकर बाजार देखते चलने में और आँखें मुँदी रखकर अल्लादाद खाँ के कन्धे पर सवार रहने में बड़ा संघर्ष होता। किन्तु प्रायः आदमी का स्वभाव ही कुछ ऐसा बना है कि उसे आँख मुँदी रखना पसन्द है यदि थोड़ा सा भी 'आराम' मिले। आँख खुली रखकर कड़ी भूमि पर पैर रखने से सब घबराते हैं। मैं भी आँखें बन्द रहने के मूल्य पर अल्लादाद खाँ के कन्धे की सवारी खरीदता था।

सन् १९१८ में पिता जी की मृत्यु हुई। पहले वे जिला हिन्दू-मोहम्मडन हाईस्कूल में थे, जीवन के अन्तिम दो तीन वर्षों में उस स्कूल को छोड़कर एक वहीं के नवारम्भ हाईस्कूल—बनारसीदास हाईस्कूल—में चले गये थे। इस स्कूल-परिवर्तन का ठीक कारण क्या था, सो तो ज्ञात नहीं, किन्तु वेतनवृद्धि नहीं ही था; वेतनवृद्धि की बात उठने पर उन्होंने कहा था—वेतनवृद्धि के साथ खर्च भी बढ़ जायगा। उसकी कोई आवश्यकता नहीं। वे उस स्कूल में भी एक प्राइमरी स्कूल के ही अध्यापक रहे। मैं समझता हूँ कि उनकी वेतन-सम्बन्धी अल्पेच्छता भी एक ऐसा कारण रहा होगा, जिसके कारण वे अपनी स्थिति के अनेक लोगों की अपेक्षा बहुत अधिक आदर-सम्मान पा सके। जिस दिन उनका शरीरान्त हुआ, दोनों स्थानीय हाईस्कूल बन्द थे। उनकी 'श्मशानयात्रा' में इतने अधिक लोग थे कि मुझ छोटे बालक को तो वह उस समय तिलक महाराज की अर्थी की सी भीड़ लगी। उस भीड़ में मुझे अल्लादाद खाँ ही अपने कन्धे पर उठाये हुए थे। मैं पितृ-शोक में विह्वल था और अल्लादाद खाँ, जो स्वयं मेरे पितातुल्य थे, मुझसे भी अधिक फूट-फूटकर रो रहे थे और कह रहे थे—"मेरा पिता तो आज मरा है।..."

क्या कोई श्यामाप्रसाद मुकर्जी या मिस्टर जिन्ना अल्लादाद खाँ के मन से मेरे पिता की भक्ति हटा सकता था? नहीं। क्या कोई श्यामाप्रसाद या जिन्ना मेरे ही मन से अल्लादाद खाँ की भक्ति हटा सकता है? नहीं। कदापि नहीं।

× × ×

किन्तु ये 'वे दिन' थे। और आज? आज की बात कही ही नहीं जा सकती। कल प्रयाग से आते समय मिस्टर मुमताज डिकदवेकर ने सुनाया कि

वे एक सुपरिचित हिन्दू-परिवार में गये तो एक छोटे से चार-पाँच वर्ष के बच्चे ने उनके पास जाने से इनकार किया। बोला—मियाँ हैं, कहीं छुरा छिपाये होंगे। जाति के छोटे-छोटे बच्चों में भी जब एक कालकूट विष व्याप्त हो रहा है तो केवल की राजनीति को—अंग्रेजों की राजनीति को—सौ बार नमस्कार कहना पड़ता है। थोड़े से दिनों में ही ऐसा युग ला दिया है कि एक-एक दिन में वर्षों की कमाई चौपट हुई चली जा रही है। नोआखाली और पटना दोनों पर हमारे खून के आँसू बहने चाहिये किन्तु कितने हैं जो मन-ही-मन एक को दूसरे का बदला नहीं समझते? हिन्दू-मुसलमान—गुलाम कहीं के—क्या खाकर बदला लेंगे। जिसने बंगाल में हिन्दू मुसलमानों को भूखों मार डाला वह ही नोआखाली, पटना और गढ़मुक्तेश्वर में लड़ा-लड़ाकर मार रहा है।

पिछले ही महीने कलकत्ते जाना हुआ। बनारस में एक मित्र को मालूम हुआ तो पूछा कलकत्ते जा रहे हैं, कुछ इन्तजाम भी कर लिया है! यहाँ से हावड़ा स्टेशन तक टिकिट खरीदकर जाया जा सकता है किन्तु स्टेशन से अपने निवासस्थान तक पहुँचने के लिये इन्तजाम' की आवश्यकता है। गाड़ी में बैठे तो हावड़ा तक लेटे ही चले गये। पहले जब कलकत्ते पर बम पड़ रहे थे तब भी एक दिन ऐसी ही खाली गाड़ी में जाने मिला था। कलकत्ता खाली हो रहा था और हम कलकत्ते जा रहे थे। उस मुसीबत में और इस मुसीबत में कितना अन्तर। वह दुःख का विषय था, किन्तु यह साथ ही साथ चुल्लू भर पानी में डूब मरने का विषय है। बमों का उजड़ा कलकत्ता बस सकता था, बस सकता है, किन्तु घर की फूट का उजड़ा कलकत्ता बसा रह ही नहीं सकता। हावड़ा स्टेशन पर उतरे तो सारा प्लेटफार्म श्मशान सा लगा। जहाँ कंधे से कंधा सटकर चलना होता था, वहाँ गिने-चुने आदमी! एक गाड़ीवाले ने आकर कहा—"मैं हिन्दू हूँ। मैं आपको पहुँचा दूँगा।" आज तक किराया ही मुख्य विचारणीय विषय रहता था, अब गाड़ीवान का मजहब भी विचारणीय विषय हो गया। किसी ने काशी-विद्यापीठ के छात्र मेरे साथी श्री महाबलेश्वर से पूछा—तुम कौन हो? हिन्दू या मुसलमान? उसने कहा विश्व-बौद्ध। जब मुझे बताया तो मैंने कहा—महाबलेश्वर शकल तो ऐसी है कि हिन्दू तुम्हें मुसलमान समझकर मार डाल सकता है और मुसलमान हिन्दू। महाबोधि सोसाइटी कलकत्ता में पहुँचा तो देखा कि जो बात मैंने आधी हँसी में कही थी, वही वहाँ के सिंहल बौद्धों के लिये एक खासी समस्या बनी हुई थी। सिर पर शिखा तो खैर बङ्गालियों के भी नहीं होती, लेकिन सिंहल के बौद्ध तहमत पहनते हैं। बिहार के अधिवासी भिक्षु ने बताया कि सड़क चलते यदि कोई उनकी ओर

घूरकर देखता है तो वे 'हिन्दू-मुसलमान' दोनों से बचने के लिये जोर जोर से सिंहल में बोलने लग जाते हैं। मैं कलकत्ता में कुछ घंटे भी न ठहर सका। प्रो० रञ्जन मेरे साथ गोहाटी जानेवाले थे। वे मुझसे दो दिन पहले कलकत्ते पहुँचकर गोहाटी के लिये प्रस्थान कर चुके थे। ज्यों ही ज्ञात हुआ, मैंने अपने टैक्सी ड्राइवर को हमें सीधा स्यालदा पहुँचा देने के लिये कहा। वहाँ गाड़ी में रञ्जन जी मिल गये। महाबलेश्वर कलकत्ते तक के ही लिये साथ आये थे. किन्तु मैं उन्हें वैसे कलकत्ते में छोड़कर गोहाटी न जा सका। साथ चलने का आग्रह किया।

लगभग एक सप्ताह आसाम—गोहाटी—में रहने के बाद जब कलकत्ते वापिस लौटे तो स्यालदा स्टेशन पर ही कुली ने बताया—एक लारी हिन्दुओं को ढो-ढोकर पहुँचा रही है और दूसरी मुसलमानों को। हिन्दुओं की लारी एक सीमेण्ट या वैसा ही माल ढोने की एक ट्रक् थी, मुसलमानों की बस एक खासी अच्छी बस थी, लेकिन वह उस समय स्टेशन पर न थी। मैंने प्रयत्न किया कि मैं पैसे देकर अपनी टैक्सी से ही जाऊँ। मुफ्त मिलने से ही कोई चीज ग्राह्य नहीं हो जाती। 'रिलीफ' के नाम पर दौड़नेवाली हिन्दू-मुसलमानों की ये लारियाँ मुझे हिन्दू-मुसलमान-अविश्वास की बड़ी जबर्दस्त प्रचारिका के रूप में दिखाई दीं। क्या इतने बड़े कलकत्ते में 'सभी' की सुरक्षा की चिन्ता करनेवाले 'कुछ' व्यक्ति भी नहीं रहते? अथवा उन 'कुछ' व्यक्तियों पर किसी को भी विश्वास नहीं? जब मुझे अपनी टैक्सी नहीं ही मिली तो मुझे भी एक 'ट्रक्' पर लदना पड़ा, क्योंकि अनन्त काल तक स्टेशन पर पड़ा रहने के लिये मैं भी तैयार न था। मुफ्त की सवारी की पहली कीमत तो यही देनी पड़ी कि कड़ाके की धूप में मेरा नङ्गा सिर तपता रहा। फिर लारीवाले ने अपने हिसाब से मुसाफिरों को जहाँ-तहाँ दौड़ते हुए मुझे भी मेरी जगह से कुछ दूर उतारना चाहा। कहा—हमें तो उधर उतरना है। तुरन्त कठोर उत्तर मिला—अब क्या ठेठ दरवाजे पर ले चलकर उतारें? एक रिक्शावाला मिल गया। सामान रिक्शा पर लाद हम ४ ए० कालेज स्क्वायर के महाबोधि विहार में पहुँचे।

दो दिन कलकत्ता में रहे। सारा कलकत्ता 'हिन्दुस्तान' और 'पाकिस्तान' में बँट गया मालूम होता था। कहीं-कहीं सड़क के एक ओर 'हिन्दुस्तान' और दूसरी ओर 'पाकिस्तान'। सड़क के बीच की ट्रैम-लाइन 'हिन्दुस्तान' और 'पाकिस्तान' की विभाजक रेखा बनी हुई। कलकत्ते के प्रसिद्ध हिन्दी-सेवी श्री सीताराम सेक्सरिया से पता लगा, तुलसी पुस्तकालय की एक हिन्दी भी बाकी

नहीं बचो हैं। अलेक्जेंड्रिया के पुस्तकालय को जलाकर खाक कर देने की सच्ची-झूठी बात सुनी है और दोहराई भी है, किन्तु यहाँ अपना सुपरिचित तुलसी पुस्तकालय ही जलाकर खाक कर दिया गया। सेकसरिया जी ने कहा—"हम अपने पुस्तकालय में सभी के काम के अखबार मँगवाते थे और सभी के काम के साहित्य का संग्रह करने का प्रयत्न किया था, किन्तु सब जल-कर खाक हो गया।"

इससे भी बढ़कर दर्दनाक बात महाबोधि सोसाइटी के भिक्षु जिनरत्न जी ने सुनाई—बिहार के पास के कच्चे घरों में कोई सौ मुसलमान इकट्ठे थे। आक्रमणकारियों ने एक-एक करके सभी को मारना चाहा। जिनरत्न जी ने बूढ़ों, बच्चों और स्त्रियों की प्राणरक्षा की याचना की। "स्वामी जी, आप नहीं जानते हैं" सुनने को मिला। आततायियों के हाथ से कोई भी न बच सका। वे सारे मकान को मिट्टी का तेल डाल जला देना चाहते थे, जिसमें उन प्राणियों की हत्या और दाहक्रिया एक साथ हो जाय। जिनरत्न जी ने यह कहकर कि मकान महाबोधि सोसाइटी का है, उसे जैसे-तैसे बचाया। मैंने पूछा—क्या सचमुच वह कच्चे घर सोसाइटी के हैं? बोले—उनमें आग लगती तो यह हमारा साथ का पुस्तकालय न बचता। इसीलिये उस समय ऐसा कह गया।

कलकत्ते में और कार्य रहने पर भी दो दिन से अधिक न रह सके। लेकिन अब इधर कलकत्ता भूल गया है। कलकत्ते का बाप नोआखाली, पटना और गढ़मुक्तेश्वर हो गये हैं। इतने वर्षों के बाद लाखों रुपये खर्च करके कांग्रेस का जो महान् अधिवेशन होने जा रहा था, उसमें दर्शकों की मनाही हो गई और यह तब हुआ जब देश के शासन की "बागडोर" हमारे राष्ट्रीय नेताओं के हाथ में है।

× × ×

क्या किया जाय? कुछ सोचते नहीं बनता, कुछ लिखते नहीं बनता। जिन्ना देश में दो जातियाँ बताते हैं और कहते हैं कि दोनों की भौगोलिक अलहदगी ही एकमात्र चिकित्सा है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि जिन्ना की इस माँग ने 'जन-आन्दोलन' का रूप धारण कर लिया है। प्रयाग में छोटे-छोटे बच्चों को सड़क पर टोली बनाये चिल्लाते सुना है—बँट के रहेगा हिन्दुस्तान, ले के रहेंगे पाकिस्तान।

दूसरी ओर हैं 'अखण्ड हिन्दुस्तान' वाले। हिन्दू महासभावादी भी और अधिकांश कांग्रेसवादी भी। कांग्रेस एक संस्था के रूप में जिन शर्तों पर पाकि-

स्तान की माँग स्वीकार करने को तैयार हैं, उन शर्तों पर श्री जिन्ना "पाकिस्तान" लेने को तैयार नहीं।

तीसरे हैं कम्युनिस्ट। वे "पाकिस्तान" के समर्थक समझे जाते हैं, किन्तु उनका "पाकिस्तान" जिन्ना का "पाकिस्तान" नहीं।

ये सभी दृष्टिकोण राजनीतिक दृष्टिकोण हैं। राजनीति की चालबाजियों में लोग अपने को विरोधी की अपेक्षा सदैव अधिक चतुर समझते हैं, किन्तु होता वही है कि एक डाल-डाल तो दूसरा पात-पात।

हम थोड़ी देर के लिये राजनीति को एक ओर रखकर सीधी-सरल दृष्टि से जैसा दिखाई देता है, उसकी बात करें। श्रीयुत जिन्ना 'दो जातियों' की बात कहते हैं। क्या किसी बाप का बेटा 'मुसलमान' हो जाने मात्र से अपने बाप का बेटा नहीं रह जाता? तब दो जातियाँ कैसी? लेकिन साथ ही यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हिन्दुस्तान में जैसा 'धर्म-परिवर्तन' होता है, उससे 'हिन्दू' से 'मुसलमान' होने पर आदमी एक प्रकार से बिलकुल दूसरे 'समाज' में चला जाता है, किसी अन्धे को भी यह बात स्पष्ट दिखाई देगी कि 'हिन्दुस्तान' में एक 'हिन्दू' का 'मुसलमान' हो जाना या 'मुसलमान' का 'हिन्दू' हो जाना 'धर्मान्तर' ही नहीं है 'समाजान्तर' भी है। 'हिन्दू' 'मुसलमान' की समस्या हमारे देश की राजनीतिक समस्या नहीं है, वह है सामाजिक समस्या। भारत को इसे सुलझाना ही है। वह दो में से एक मार्ग चुन सकता है। पहला मार्ग है—सामाजिक क्रान्ति का मार्ग। आदमी का 'मजहब' कुछ भी हो, हम सबका 'समाज' एक हो, उठना बैठना, खाना-पीना, शादी-विवाह करना आदि। आखिर 'धर्मान्तर' का मतलब 'समाजान्तर' क्यों हो?

और यदि भारत यह नहीं कर सकता तो आज मुसलमान अपने पृथक् 'समाज' के आधार पर पृथक् 'देश' की माँग कर रहे हैं, कल 'अछूत' करेंगे। आज के डाक्टर अम्बेदकर की आप अवहेलना कर सकते हैं, कल आप उनकी भी अवहेलना न कर सकेंगे।

देश की वर्तमान पीढ़ी के सामने यह जीता-जागता प्रश्न है, जीवन और मृत्यु का प्रश्न!

इन पंक्तियों के लेखक का तो सीधा-सादा असन्दिग्ध उत्तर है—पहला मार्ग, राजनीतिक क्रान्ति से पहले सामाजिक क्रान्ति का मार्ग।

बापू के प्रति

जिसने इस महान् राष्ट्र के नागरिकों की उंगली पकड़-पकड़कर राष्ट्रीयता की सड़क पर चलना सिखाया, उस बापू को शतशः प्रणाम।

बच्चों का धर्म यह है कि वे दौड़-दौड़कर अपने पिता के भी आगे-आगे चलें। यदि वे नहीं चलते तो वे अपने बचपन को लजाते हैं और यदि कोई 'बापू' अपनी सन्तान को अपने से आगे-आगे नहीं चलने देता, तो वह अपने पितृ-धर्म से विचलित होता है। पिता का तो धर्म ही है कि 'पुत्रादिच्छेत् पराजयम्'—अपनी आनेवाली पीढ़ी को अपने से भी आगे बढ़ा हुआ देखने की इच्छा करे।

सिंहल के इतिहास में एक नाम है दुटुगैमुनु—दुष्ट ग्रामणी। सारी सिंहल जाति इसी एक नाम की ओर पीछे देख-देखकर आगे बढ़ती है। दुटुगैमुनु के बचपन की दो बातें याद आती हैं। जब वह छोटा था तो एक दिन सिकुड़े पैर लेटा था। माता विहार देवी ने, जो दूसरी जीजाबाई थी, कहा—"पैर फैलाकर क्यों नहीं सोता? दुटुगैमुनु!" दुटुगैमुनु ने कहा—"पैर फैलाकर कहाँ सोऊँ? दक्षिण में समुद्र है; उत्तर में द्राविड़ों का राज्य है।" क्या बालक दुटुगैमुनु की उस उक्ति में अपनी माता के प्रति 'अविनय' है?

इतना ही नहीं। जब पिता ने उसे विदेशी द्राविड़ों के ख़िलाफ़ लड़ने से मना किया तो दुटुगैमुनु ने पिता के पास स्त्रियों के पहनने के कंगन भिजवा दिये कि उन्हें पहनकर बैठे रहें। माता के प्रति दुटुगैमुनु का व्यवहार भले ही अविनय न लगे, किन्तु पिता के प्रति किया गया यह व्यवहार तो अविनय लगेगा ही।

जो जाति ऐसे अविनयी वीर पैदा कर सकती है, वही जाति दुनिया में जीवित रह सकती है।

हम समझते हैं कि भारत के पराधीन होने के दो सौ वर्ष बाद तक—सन् १८१५ तक—यह जो छोटा-सा द्वीप अपनी स्वतन्त्रता के लिये तमाम यूरोपीय शक्तियों से लड़ता रह सका, उसका कारण यह दुटुगैमुनु की अविनयी परम्परा ही थी।

कहाँ दुद्गैमुनु और कहाँ इन पंक्तियों के लेखक जैसा सामान्य व्यक्ति ! तो भी स्वतंत्रता के महान् आदर्श के मूर्तिमान-स्वरूप दुद्गैमुनु की याद केवल इसलिये आ गई कि उसने अविनयी ही नहीं दुष्ट तक कहलाने की कीमत देकर भी अपने पिता के चरणों में जो निवेदन करना उचित था, वह निवेदन किया ही।

इधर ३१ अगस्त को कलकत्ता में बापू का जो प्रार्थना-प्रवचन हुआ है, उसमें बापू ने अपनी राष्ट्र-पताका के सम्बन्ध में कुछ ऐसी उदाराशयता दिखाई है, जो हमारी विनम्र सम्मति में राष्ट्रीयता के लिये बड़ी ही घातक है। गान्धी जी ३१ अगस्त को बनारस गये थे—श्री सुहरावर्दी के चुनाव-क्षेत्र में। वहाँ आपने देखा कि बारसत हाईस्कूल में एकमात्र तिरङ्गा झण्डा फहरा रहा है! आपने हिन्दुओं से पूछा कि "तुमने अपने मुसलमान भाइयों से तिरंगे झण्डे के साथ-साथ उनका अपना पाकिस्तानी झण्डा भी फहराने का आग्रह क्यों नहीं किया ?" क्यों, क्या तिरङ्गा झण्डा सबका नहीं है ? यदि सबका है तो फिर उसके साथ-साथ पाकिस्तानी झण्डा फहराने की क्या जरूरत ? और यदि सबका नहीं है तो फिर पाकिस्तानी झण्डे को तिरङ्गे झण्डे के साथ-साथ ही फहराने की क्या जरूरत ?

हमें दुःख के साथ स्वीकार करना पड़ता है कि हिन्दू-चेतना तथा मुस्लिम-चेतना को पृथक्-पृथक् बढ़ाकर हिन्दू-मुस्लिम-एकता कराने का जो बापू का सदाकालिक प्रयत्न है, यह उसी का एक नमूना है। वह प्रयत्न जो सफल नहीं हो पाया है, उसका कारण उसके उद्देश्य की निर्मलता में कमी नहीं है, किन्तु साधन की सदोषता ही है।

बापू ने अपनी बात को स्पष्ट करते हुए आगे कहा है कि यदि मुसलमानों में कहीं एक भी हिन्दू लड़की हो तो मुसलमानों को चाहिये कि वह उस अकेली लड़की को भी 'राम-धुन' कहने और तिरङ्गा फहराने के लिये उत्साहित करें। 'राम-धुन' की बात समझ में आती है, किन्तु 'राम-धुन' के साथ में यह तिरङ्गा झण्डा क्यों ? क्या, तिरङ्गा झण्डा भी हिन्दू-धर्म का प्रतीक है ? यदि हाँ, तब तो सचमुच मुसलमानों को चाहिये कि वह उस अकेली हिन्दू लड़की को तिरङ्गा फहराने के लिये उत्साहित करें। तिरङ्गा हिन्दुओं का और पाकिस्तानी झण्डा मुसलमानों का। हमारी राष्ट्रीय पताका किसी की भी नहीं ? यदि तिरङ्गा झण्डा हिन्दू-धर्म का प्रतीक नहीं, किन्तु उस राष्ट्रीयता का प्रतीक है, जो हिन्दू-धर्म तथा इस्लाम अथवा अन्य किसी भी मजहब से ऊपर की चीज है, तो उस हिन्दू लड़की को और मुसलमानों को सभी को तिरङ्गा झण्डा

ही फहराना चाहिये। हाँ, अपने किसी धार्मिक उत्सव पर कोई गेरुवे झण्डे के साथ-साथ तिरङ्गा फहरा सकता है और कोई अपने इस्लामी झण्डे के साथ-साथ भी तिरङ्गा फहरा सकता है। और हमारी समझ में भारत में, इण्डिया में, पाकिस्तानी झण्डे के लिए तो कोई स्थान होना ही नहीं चाहिये, क्योंकि पाकिस्तानी झण्डा तो पाकिस्तान का झण्डा है, कुछ इस्लाम का झण्डा नहीं।

बापू के बाद श्री० सुहरावर्दी ने जो भाषण दिया, उसमें उन्होंने मुसलमानों को सम्बोधित करते हुए ठीक ही कहा है कि मुसलमानों को चाहिये कि वे तिरङ्गे पर अपना उतना ही हक मानें, जितना हिन्दू और 'जय-हिन्द' को अपना वैसा ही प्रिय नारा समझें जैसे हिन्दू। वे सब समानरूप से उस राज्य के नागरिक हैं, जिसका तिरङ्गा सरकारी झण्डा है।

किन्तु, बापू, ऐसा लगता है कि इधर कुछ ऐसे अभिभूत हो गये हैं कि वे इस्लाम, मुस्लिम लीग और पाकिस्तान में जैसे कोई भेद ही नहीं देख रहे हैं। तीस अगस्त का पटने का समाचार है कि दरभंगा के मौलाना अब्दुल रहमान 'आजाद' ने राष्ट्रीय मुसलमानों की ओर से गान्धी जी को तार दिया है कि उन्हें गान्धी जी की यह सलाह कि राष्ट्रीय मुसलमानों को मुस्लिम लीग में शामिल हो जाना चाहिये, पसन्द नहीं। उनका कहना है कि मुस्लिम लीग तो प्रतिक्रियावादी संस्था है और वे अर्थात राष्ट्रीय मुसलमान कांग्रेस में स्वेच्छापूर्वक शामिल रहे हैं।

बापू ने अपने उधर के एक प्रार्थना-प्रवचन में अभागे 'भारत' के लिए बड़ी ही काम की बात कही थी कि धर्म व्यक्तिगत चीज है। हाँ, आज इसी बात को दोहराने और इसी के अनुसार अपने तथा समाज के आचरण को बदलने की जरूरत है।

किन्तु हम देखते हैं कि हमारे बापू धर्म को व्यक्तिगत चीज मानते हुए भी सभी प्रश्नों को, यहाँ तक कि भाषा के प्रश्न को भी, धर्म के साथ कुछ ऐसा उलझा दे रहे हैं कि सुलझी बात भी उलझी नहीं रहती, तो उलझ जाती है।

इधर बापू ने 'हरिजन' में एक लेख लिखकर उसके पाठकों से यह जानना चाहा है कि उन्हें 'हरिजन' की आवश्यकता है या नहीं? 'हरिजन' अंग्रेजी में छपता है और हिन्दी, गुजराती तथा मराठी में भी। 'हरिजन' से पहले 'यंग-इण्डिया' और 'नवजीवन' का भारत के राष्ट्रीय इतिहास में और उसके निर्माण में विशेष स्थान रहा है। 'हरिजन' तथा 'हरिजन-सेवक' मूल-

रूप में देश के सबसे बड़े कलंक अछूतपन के विरुद्ध लड़ाई लड़ने के लिये ही प्रकाशित हुए थे; किन्तु वे शनैः शनैः सभी सार्वजनिक उद्देश्यों की पूर्ति में सहयोग देने लग गए। वे भी गान्धी जी के 'यंग-इण्डिया' और 'नवजीवन' ही बन गए। 'हरिजन' और 'हरिजन-सेवक' ने भी देश की अपरिमित सेवा की ही है। अब बापू जानना चाहते हैं कि देश को अथवा उन पत्रों के पाठकों को उनकी आवश्यकता है या नहीं? बापू के मन में यह प्रश्न क्यों पैदा हुआ, इसका कारण उन्होंने स्वयं 'हरिजन' में दिया है। उन कारणों को पढ़कर और उन पर विचार करने के बाद यदि 'अस्थाने' न लगे तो हम अपनी विनम्र सम्मति यहाँ दे देना चाहते हैं :—

(१) अंग्रेजी 'हरिजन' बन्द कर दिया जाय।

(२) हिन्दी 'हरिजन-सेवक' जारी रहने दिया जाय।

(३) मराठी 'हरिजन-बन्धु' बन्द हो ही गया है, गुजराती भी बन्द कर दिया जा सकता है।

बापू के आजकल जितने प्रार्थना-प्रवचन होते हैं; वे 'हरिजन' में छपने से पहले देश भर के पत्रों में छप जाते हैं। 'हरिजन' के पढ़ने के लिए कोई बैठा प्रतीक्षा नहीं करता रहता, और अब समय आ गया है कि बापू अंग्रेजी 'हरिजन' को बन्द करके राष्ट्र-भाषा में प्रकाशित होनेवाले 'हरिजन-सेवक' पर ही अपना अधिकृत पत्र होने की मोहर लगा दें।

'हरिजन' के प्रकाशन को बन्द करने की सलाह देने का एक दूसरा कारण भी है। वह यह है कि जब तक अंग्रेजी 'हरिजन' प्रकाशित होता रहेगा, तब तक बापू मूलरूप में उसके लिये अंग्रेजी में लिखते ही रहेंगे। और जब 'हरिजन' बन्द हो जायगा तब हमें बापू के मूल लेख, उनकी 'हिन्दुस्तानी' में ही सही, 'हरिजन-सेवक' में पढ़ने को मिलेंगे। अंग्रेजीवालों को लाख गर्ज होगी तो वह उनके अनुवाद छापा करेंगे। हमें तो अपने बापू की 'वाणी' उन्हीं के शब्दों में पढ़ने को मिलेगी।

अभी होता क्या है? बापू के प्रार्थना-प्रवचनों तक की प्रामाणिक रिपोर्ट अंग्रेजी में तैयार होती है और वे अहमदाबाद जाती हैं, जहाँ उनके ऐसी 'हिन्दुस्तानी' में अनुवाद होते हैं, जिससे कोई भी साहित्यिक भाषा पनाह माँगती है।

बापू की भाषा व्याकरण-शुद्ध न सही, उसमें वह बनावट तो नहीं होती, जिसका नमूना 'हरिजन-सेवक' पेश करता रहता है। क्या भाषा होती है! 'हिन्दी की खाल में उर्दू का भूसा भरा हुआ!

यदि 'हरिजन' बन्द हो जाय और 'हरिजन-सेवक' ही चालू रहे तो बापू का यह निर्णय ऐसा होगा कि उसके अधिकांश पाठकों को पसन्द आयेगा।

पूज्य बापू के श्रीचरणों में हमारा यही निवेदन है।

अभी-अभी बापू के व्रत का समाचार मिला है। अब कोई क्या ऊहापोह करे। अब तो यही प्रार्थना है कि जिस देश को बापू ने इतना प्राणदान दिया है, वह देश इतना बुद्धिमान् और इतना देशकालज्ञ सिद्ध हो कि बापू का यह व्रत २४ घंटे के भीतर ही भीतर टूट जाय।

क्या कलकत्ते के नागरिकों से यह कोई बड़ी आशा है?

—:❀:—

पंडित जयचन्द्र जी ! स्वागतम्

आज (सोमवार) का 'भारत' यह सुसंवाद लाया है कि पंडित जयचन्द्र विद्यालंकार जेलमुक्त हो गए।

यों तो सारा भारत ही एक बड़ा जेलखाना है, किन्तु उसमें भी किसी-किसी के जेल-जीवन की कहानी अत्यन्त कारुणिक ही नहीं हमारी असमर्थता का ज्वलन्त उदाहरण भी है।

सन् १९४३ में जनवरी-फरवरी में पंडित जी दो महीने से संग्रहणी से बीमार थे। अभी कमजोरी बहुत थी। अन्न लेना आरम्भ किए चार-पाँच दिन ही हुए होंगे कि २८ अप्रैल को डी० आई० आर० की १२९ धारा में पुलिस पकड़ ले गई। उसी दिन पहली ट्रेन से लखनऊ पहुँचा दिये गए।

पंडित जी की पत्नी सौ० सुमित्रा देवी ने यू० पी० के होम सेक्रेटरी के पास प्रार्थना-पत्र दिया कि रोगी-अवस्था में पकड़े गये हैं, पैरोल पर छोड़ दिये जाँय। उत्तर मिला—औषधि-पथ्य की व्यवस्था कर दी गई है। पैरोल पर छोड़ना असम्भव।

२१-२२ मई तक लखनऊ सेन्ट्रल जेल में रहे। इस अर्से में एक पत्र धर्मपत्नी के नाम आया—वजन ११३ पौण्ड में १०० पौण्ड रह गया था।

२३ मई से २५ जून तक लाहौर सेन्ट्रल जेल में ही रहे...। इसी बीच पता चला कि उनकी गिरफ्तारी पंजाब गवर्नमेंट की आज्ञा से हुई है। लाहौर में उनके दो छोटे भाई दो दिन पहले २६ अप्रैल को ही पकड़ लिए गए थे। बहन (श्रीमती पार्वती देवी जी) सितम्बर १९४२ से ही नजरबन्द थीं। छोटे भाई पर भी वारन्ट था। वह कहीं फरार थे।

२४ या २५ जून को ही एक दिन के लिए तीनों भाई सेन्ट्रल जेल लाहौर में इकट्ठे हुए। छोटे भाई की स्त्री और तीनों के बच्चे जेल के फाटक पर आवश्यक कपड़े, पुस्तकें और रुपये लेकर गए, तो सूचना मिली कि प्रोफेसर (जयचन्द्र जी) लाहौर फोर्ट भेज दिए गए हैं। अगले दिन चि० अरुण फोर्ट के फाटक पर कपड़े दे आया।

अब न कोई चिट्ठी, न पत्री। सुमित्रा देवी जी की चिट्ठियों की पहुँच तक नहीं। प्राइम मिनिस्टर, सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस आदि सभी को दरख्वास्तें भेजीं। व्यर्थ, पता ही नहीं लगता था कि पंडित जी कहाँ हैं। सेंट्रल-जेल लाहौर से एक रजिस्ट्री चिट्ठी इस रिमार्क के साथ आई—इस जेल में नहीं हैं।

किसी इन्श्योरेंस कम्पनी की एक रजिस्टर्ड चिट्ठी उन तक न जाने कैसे पहुँची। उसकी पहुँच पर उनके हस्ताक्षर थे। लेकिन उस पर भी स्थान आदि का कहीं कुछ उल्लेख नहीं। कैसे हैं, का क्या ठिकाना, कहाँ हैं, का भी पता नहीं। एक-दो दिन नहीं—पूरे चार महीने इसी चिन्ता की अवस्था में बीते।

सितम्बर में हाईकोर्ट की शरण ली। उधर दरख्वास्तें और पेशियाँ पड़ रही थीं। हैरानी थी। बेहद परेशानी थी। उधर पहली अक्टूबर को स्वास्थ्य की अत्यन्त चिन्ताजनक अवस्था में सिक्यूरिटी प्रिज़नर बनाकर, कैम्बलपुर पहुँचाए गए। वजन सौ पौण्ड से भी घटकर ९१ पौण्ड रह गया था।

अक्टूबर के अन्त में और फिर नवम्बर में सौ० सुमित्रा देवी तथा अरुण और पंडित जी के श्वसुर ने जेल में मुलाकात की। कमजोरी के मारे आकृति भयावनी हो गई थी।

मई तक एक-दो मुलाकात हो सकी। मई में पता लगा कि किसी अज्ञात स्थान पर तबदील कर दिए गए हैं। डी० आई० जी, सी० आई० डी० को दो दरख्वास्तें और जवाबी तार भेजा गया। उत्तर आया—मुलाकात नहीं हो सकती। एक महीने की परेशानी के बाद पता लगा कि कैम्बलपुर जेल में हैं।

इन अज्ञात-वासों में लाहौर के बदनाम किले में, सुना है पंडित जी को नाना तरह की यातनायें दी गईं। पहला प्रश्न उठता है कि पंडितजी इतिहास परिषद् के मंत्री की हैसियत से इतिहास लिखने-लिखाने के 'निर्दोष' काम में लगे थे, उन्हें पुलिस पकड़कर ही क्यों ले गई? और फिर उनके साथ ऐसी कठोरता क्यों बर्ती गई? इन प्रश्नों का उत्तर सरकार और उसकी सी० आई० डी० भी दे सकती है। उड़ती चिड़िया का कहना है कि सी० आई० डी० यह समझती रही है कि ९ अगस्त के बाद बनारस और उसके आस-पास जो राजनीतिक घटनायें हुईं, पंडित जी उनके सूत्रधारों में प्रमुख थे।

अन्दर जेल में पंडित जी को शारीरिक कष्ट के अतिरिक्त न मालूम कितना मानसिक कष्ट सहना पड़ा। बाहर सौ० सुमित्रा देवी ने एक वीर क्षत्राणी की तरह असाधारण धैर्य, स्वाभिमान और आत्म-नियंत्रण का परिचय दिया। पंडित जी के मित्रों, प्रशंसकों ने जब भी कभी उनकी आर्थिक चिन्ता का प्रश्न

उठाया, उनका एक उत्तर था—"पंडितजी के जीवन का मिशन इतिहास उनके परिवार से अधिक मान्य है। हम जो कुछ भी कर सकें, हमें उसी के लिए करना चाहिए।"

२९-१२-४४ को सुमित्रा देवी जी ने एक लम्बा पत्र पूज्य बापू को लिखा। उस पत्र में पंडित जी की और उससे भी अधिक उनकी प्रिय संस्था इतिहास-परिषद् की ओर बापू का ध्यान आकर्षित किया गया था। इस पत्र को पूज्य बापू तक पहुँचाने का सौभाग्य मुझे ही मिला था। बापू की डाक इतनी अधिक रहती है कि किसी पत्र का उन तक पहुँचकर भी बिना पढ़े पड़े रहना असम्भव नहीं। मैंने प्रयत्न किया कि किसी तरह यह पत्र उनके अपने हाथ तक अवश्य पहुँच जाय। एक दिन प्रातःकाल वह अपनी कुटिया में अकेले ही बैठे थे। वह मौन-दिवस था। मैंने जाकर उस पत्र के बारे में पूछा। तुरन्त पास ही फाइल उठाकर उसमें से वह पत्र निकाला और पेंसिल से लिखा—

मैं पढ़ गया। आप आए नहीं। इसलिए मैंने रख छोड़ा। सिवाय आशीर्वाद के मैं क्या कर सकता हूँ।

ओह! भारत कितना असमर्थ है! मैंने ठण्डी साँस ली और निवेदन किया—बापू। यह पत्र दे दें। सुमित्रा देवी इसे ही आशीर्वाद-स्वरूप पाकर धन्य होंगी। वह पत्र आज भी मेरे पास सुरक्षित है, डाक से भेजकर स्वयं-हस्ते देने की इच्छा के कारण।

सन् ४३-४४ में तो पंडित जी को अपनी संस्था के विषय में कुछ लिखने की आज्ञा नहीं थी। सन् ४५ में वह प्रतिबन्ध हट गया। तब से उनके पत्रों में इतिहास-परिषद् ही इतिहास-परिषद् दिखाई देता है।

उनकी अनुपस्थिति में कुछ लोगों ने परिषद् की प्रतिकूल आलोचनायें की हैं। उनको सूचना मिली तो वह अपने ७-२-४५ के पत्र में लिखते हैं—

"इतिहास का काम नहीं कैसे हुआ? जिन विद्वानों ने तैयारी की है, वह नष्ट तो नहीं हो गयी। युद्ध के बाद संचित रूप में सब प्रकाशित होंगी। इतिहास कोई उपन्यास या समाचारपत्र तो नहीं है कि दिनों-महीनों में निकल जाय। जो कहते हैं, धन बर्बाद हुआ, उन्हें तमीज नहीं कि राष्ट्रीय इतिहास के लिए धन का उपयोग कैसे होना चाहिए। आखिर कुल बीस हजार ही तो खर्च हुआ। उससे भारतीय दृष्टि से इतिहास लिखने की पूरी योजना बनी, विद्वानों का बड़ा संगठन खड़ा हुआ। उसकी सफलता का यह प्रभाव कि आज चारों तरफ उसी की ठीक नकल वह लोग भी कर रहे हैं, जिन्हें कल इस पर विश्वास करने की हिम्मत न होती थी कि ऐसा काम भी हो सकता है...।"

एक दूसरे पत्र में लिखते हैं—"पीछे तुमने लिखा था लोग कहते हैं इतिहास का काम नहीं हुआ, धन बर्बाद हुआ। यह कहना शायद इस ख्याल पर निर्भर है कि हमारे इतिहास का कोई ग्रन्थ नहीं निकला, इस बीच दूसरी संस्थाएँ भी उस काम में जुट गईं।

"मुझे दूसरी संस्थाओं के आगे निकल जाने का जरा भी डर नहीं। प्रत्युत डर इस बात का लग रहा है कि हमारी ओर से जल्दबाजी में कोई अधकचरी वस्तु न निकल जाय...यदि वे सचमुच प्रामाणिक ग्रन्थ तैयार करने में हमसे आगे निकल जायँगी तो मुझे खुशी ही होगी।"

एक और पत्र में लिखा है—"बहुत थोड़े खर्च से और जल्दी इस इतिहास को प्रस्तुत देखना चाहनेवालों के ध्यान में यह लाना चाहिए कि कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया की कुल ६ में से पहली जिल्द १९२१ में निकली थी, पर दूसरी अभी तक नहीं निकली, यद्यपि तीसरी, चौथी, पाँचवीं, छठी निकल चुकी हैं और तीसरी का दुनिया भर में उपहास भी हो चुका है क्योंकि यह जल्दी की अपरिपक्व कृति थी। एक लाख रुपया उस इतिहास के केवल चित्रों के लिए माँगा था और वह रकम एक ही राष्ट्रप्रेमी भारतीय व्यवसायी ने दे दी थी।"

सौभाग्य से अब इतिहास-परिषद् के अध्यक्ष राजेन्द्र बाबू बाहर हैं और उसके मंत्री भी कारागार-मुक्त हो गए हैं। हमें विश्वास है कि २॥-३ साल के विघ्न के बावजूद भी इस कार्य का नेतृत्व राजेन्द्र बाबू ही कर सकेंगे। यदि भारतीय इतिहास की खोज का यह गहरा और व्यापक आयोजन उनके नेतृत्व में सफल हो गया तो इसमें सन्देह नहीं कि हमारे राष्ट्र की एक बड़ी ही आवश्यकता पूरी होगी और इस यज्ञ के प्रधान पुरोहितों—राजेन्द्र बाबू और पंडित जयचन्द्र विद्यालंकार की कीर्ति शताब्दियों बनी रहेगी।

मेरा देश बाँटा जा रहा है !

एक बच्चे पर दो माताएँ अपना-अपना अधिकार जता रही थीं। जब राजा निपटारा न कर सका अथवा सच्ची बात का पता लगाने के लिए ही उसने कहा—"मैं बच्चे के बीच में से दो टुकड़े करके एक-एक हिस्सा दोनों को दे देता हूँ।" सच्ची माँ बोली—"बच्चे को बीच में से न चीरो। उसी को दे दो, उसी को दे दो।"

आज किसी एक बच्चे के नहीं, स्वयं भारत 'माँ' के टुकड़े होने जा रहे हैं। उसके चालीस करोड़ सपूतों की आँखों के सामने। मुस्लिम लीग प्रसन्न है कि उसका "पाकिस्तान" उसे मिल रहा है। कांग्रेस प्रसन्न है 'पंजाब' और 'बंगाल' का भी बटवारा हो रहा है। रियासतें प्रसन्न हैं कि वह किसी न किसी शासन-व्यवस्था में सम्मिलित होने और न होने के लिए स्वतंत्र हैं। और तो और एमरी ही नहीं, चर्चिल तक प्रसन्न हैं कि अब उनकी पाँचों अंगुलियाँ घी में हैं।

भारत को 'स्वाधीनता' मिल रही है और अंग्रेजों के पैर भारत में और भी जमे जा रहे हैं। ऐसा है यह 'स्वराज्य', जो हमारे हमें बापू कहते हैं कि १५ अगस्त से भी पहले मिलनेवाला है !

'इतिहास' ने देश के मानचित्र पर अनेक लकीरें खींची हैं। कुछ और लकीरें खिचने से भी मस्तिष्क पर चिंता की रेखाएँ क्यों खिचें ? इसीलिए कि यह बँटवारा दो भाइयों की रजामंदी से किया हुआ बटवारा नहीं है, यह तो अंग्रेजों का किया हुआ बटवारा है, जिसके लिए मुस्लिम लीग ने आग्रह किया है और जिसे कांग्रेस-कार्यसमिति ने मजबूरी से स्वीकार किया है।

अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस महासमिति चाहे तो इस स्वीकृति को अस्वीकृति में पलट दे सकती है। किन्तु—आशा नहीं।

प्रश्न होता है कि कांग्रेस के उच्चाधिकारी इस देश-विभाजन के लिए क्यों मजबूर हो गए हैं ? इसलिये कि वे आज किसी के 'मायाजाल' में फंसकर उस महा-मन्त्र को, जिसकी दीक्षा स्वयं उन्होंने देश को दी है, भूल गए हैं। वे 'स्वराज्य' को अंग्रेजों द्वारा दी जा सकनेवाली चीज समझने लग गए हैं।

हमें तो यह तोता-रटन्त याद है कि 'स्वराज्य' दिया नहीं जाता, लिया जाता है; किन्तु उन्हें भूल गई है।

प्रश्न है यदि कांग्रेस कार्यसमिति ब्रिटिश योजना को अस्वीकार कर दे तो अंग्रेज क्या करेंगे? उत्तर है—"अंग्रेजों को यहाँ बने रहने का और बहाना मिल जायगा।" तो सिद्ध हुआ कि वास्तव में अंग्रेज यहाँ बने ही रहना चाहते हैं, किन्तु मजबूरी के कारण ही उन्हें भारत छोड़कर जाना पड़ रहा है। यदि वे यहाँ बने रहना चाहते है तो उन्हें भारत छोड़कर जाने की क्या जरूरत? क्या मजबूरी? बापू का कहना है कि 'वे हमारे असहयोग-आन्दोलन से प्रभावित हो गए हैं। हमने उन्हें बिना किसी तरह की हानि पहुँचाए उनसे केवल असहयोग किया है।" अर्थात् उनमें हृदय परिवर्तन हो गया है। काश! अब तक के इतिहास ही की तरह हमें भावी इतिहास भी निराश न करे। किन्तु यदि यह हृदय-परिवर्तन हुआ है तो अंग्रेज देश छोड़ने से पहले उसके टुकड़े-टुकड़े क्यों कर डालना चाहते हैं? क्या वे बिना देश को बांटे देश को छोड़ ही नहीं सकते?

इसका एक उत्तर तो स्वयं अंग्रेजों द्वारा दिया जा रहा है। उन्हें चिन्ता है यह देश को यूं ही छोड़कर चले जायेंगे तो देश के बहुसंख्यक तथा अल्प-संख्यक लोगों में आपस में खून-खच्चर हो जायगा। इसीलिए वे जाने से पहले देश में ऐसी सुव्यवस्था कर जाना चाहते हैं कि हिन्दुस्तान के लोग "यावचन्द्र-दिवाकरौ" शान्ति-पूर्वक राज्य करते रहें। हमें यह बात इतनी अधिक अच्छी लगती है कि इसके झूठे होने में तनिक सन्देह नहीं।

दूसरा उत्तर इस देश के 'सौजन्य' ने दिया है—"देश के बटवारे में अंग्रेजों का क्या कसूर है? वे तो वही कर रहे हैं, जो उन्हें कांग्रेस और मुस्लिम लीग मिलकर करने को कह रही हैं।" काश! कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने कुछ मिलकर कहा होता। कुछ मिलकर कहा होता तो आज दूसरा ही रङ्ग होता। दुर्भाग्य तो यही है कि देश के बटवारे की माँग मिलकर नहीं की गई है। देश के बटवारे की माँग आपस में पहले बँटकर की गई है।

हिन्दुस्तान ब्रिटेन से आठ गुना बड़ा है। यदि इंगलैंड पर भारत का शासन-काल इंगलैंड के शासन-काल से आठवाँ हिस्सा भी रहे तो यह कुछ कठिन नहीं है कि वेल्ज और स्काटलैंड के लोग इंगलैंड से पृथक् होने की माँग करने लगें। यह तो साम्राज्य-शाही के बायें हाथ का खेल है कि कलम हमारी रहती है—बात उनकी लिखी जाती है।

हमें प्रसन्नता है कि बड़े-बड़ों को रतौंधिया हो जाने पर भी सारा राष्ट्र

अन्धा नहीं हो गया है। हमें दुःख तो यही है कि हमारा देश बँट रहा है और देश के इस बँटवारे को, देश में घर-घर फूट के बीज बिखेर दिये जाने के साम्राज्य-शाही प्रयत्न को, हमारे नेतागण 'स्वराज्य दिया जाना' समझ रहे है।

किसी जाति का इससे बड़ा दुर्भाग्य क्या होगा कि उसके नेतागण देश कि इस 'बरबादी' को देश की आजादी समझ रहे हैं।

हमें इसमें तनिक सन्देह नहीं कि राष्ट्र-आत्मा शीघ्र ही इस आत्मघात का बदला लेगी और विद्रोह करेगी। देश का पिछली आधी शताब्दी का स्वातंत्र्य-आन्दोलन वृथा नहीं जा सकता।

सम्मति और समालोचना

"समालोचना तो लिखी पड़ी है, तुम्हारे नाम से छप जाय तो कुछ हर्ज है ?"

उनके प्रति मैं श्रद्धावान् था और आज भी हूँ। सोचा, मेरा नाम यदि उनके किसी काम आ जाय, तो क्या हर्ज है ? कुछ दिन बाद मैंने "सरस्वती" में उनके एक विशिष्ट ग्रन्थ की आलोचना छपी देखी। उस आलोचना को मैं समझ सकता था, इतनी तो मेरी योग्यता थी, किन्तु वैसी आलोचना लिख नहीं सकता था। आज से २१-२२ वर्ष पहले इस प्रकार मैंने पहले-पहले समालोचना, की। उस समय 'समालोचक' रूप में नाम छपा देखने की इच्छा भी उस सेवा-भाव में मिली ही रही होगी। शुद्ध दूध बाजार में मिलता कहाँ है !

जब से सुना है कि असफल लेखक सफल समालोचक होता है, तब से समालोचक बनने की मेरी कभी इच्छा ही नहीं हुई। असफल लेखक तो जो चाहे हो ही सकता है. लेकिन सफल समालोचक तो कोई इच्छा मात्र से नहीं होता।

क्या सचमुच मुझ जैसी सामान्य योग्यता रखनेवाले 'व्यक्ति समालोचक हो ही नहीं सकते ?

काफी समय हुआ। कलकत्ते से प्रकाशित होनेवाली एक अंग्रेजी पत्रिका के कार्यालय में मैं ऊपर बैठा था। नीचे से मेरे मित्र आए। बोले—इन दो पुस्तकों की 'समालोचना' कर दें। कोई आठ-आठ सौ पृष्ठ के अंग्रेजी के दो बड़े ग्रन्थ। मैंने कहा—कब चाहिए ? बोले अभी। मैं चकित था। निवेदन किया—बिना पुस्तक पढ़े अभी 'आलोचना' करना सीखा ही नहीं। वह पुस्तक उठा ले गए। नीचे जाकर टाइपराइटर पर बैठ गए। बीस मिनट में दोनों ग्रन्थों की 'समालोचना' तैयार की। समालोचना में लेखक के बारे में लिखा था—"श्री···बड़े प्रसिद्ध लेखक हैं। उनका यह ग्रन्थ वैसा ही है जैसे ग्रन्थ की उनसे आशा थी—इत्यादि।" ऐसी 'समालोचना' प्रायः देखने को मिलती है। अब 'समालोचना' के प्रति यदि किसी की आदर-बुद्धि अनादर-बुद्धि में परिणत हो जाय, तो उसका क्या क़सूर।

दो-एक 'समालोचना' मैंने भी की है, परिश्रमपूर्वक भी की। लेकिन दोनों-तीनों बार 'प्रिय' नहीं बना रह सका।

अब तो मैं मान बैठा हूँ कि 'समालोचनार्थ' का अर्थ है 'विज्ञापनार्थ'। उसमें सहायक होने में विशेष हर्ज भी नहीं। हाँ, बीच-बीच में 'अच्छे ग्रन्थ' और उनकी 'खरी समालोचना' भी देखने को मिलती ही है। तब सचमुच तबियत प्रसन्न हो जाती है।

किसी अखबार के सम्पादक से पूछो कि उसे बचपन में एक चिट्ठी मिलने से प्रसन्नता होती थी, क्या अब ढेर-की-ढेर डाक मिलने से भी होती है? अधिक डाक एक जहमत लगती होगी। उसमें बीच-बीच में पुस्तकें भी रहती ही हैं—रजिस्ट्री-द्वारा भेजी हुई, जिनकी डाकखाने को पहुँच भी पहुँचानी होती है।

हर भले आदमी का पढ़ने-लिखने का कुछ कार्यक्रम रहता है, रहना चाहिए। सबसे पहले तो ये पुस्तकें उस कार्यक्रम को उसी प्रकार छिन्न-भिन्न करती होंगी जैसे जोर-जबरदस्ती टिकट खरीदने वाले रेलवे स्टेशनों पर बने-बनाये 'क्यू' को। अब सबसे पहला काम तो सम्पादक का यही होता होगा कि पढ़ने योग्य और न पढ़ने योग्य का निर्णय करे। बाजार में जो कुछ बिकता है, क्या सभी खाने योग्य होता है, तो हर पुस्तक ही पढ़ने योग्य कैसे हो सकती है? एक रद्दी पुस्तक पढ़ने का मतलब है, अपने-आपको एक अच्छी पुस्तक पढ़ने से वंचित रखना। कोई भी पाठक एक पुस्तक को पढ़ने योग्य और न पढ़ने योग्य दोनों तो समझ ही नहीं सकता। यदि पढ़ने योग्य समझता है तो तुरन्त पढ़ना तो आरम्भ कर ही नहीं सकता। पढ़ना ही किसी का भी एकमात्र काम नहीं और केवल उस एक पुस्तक को पढ़ना तो हो ही नहीं सकता। दो-एक दिन में ही पत्र आता है—"पुस्तक भेजी थी। पहुँची होगी। आपने 'पहुँच' नहीं दी।" मुझे ऐसे पत्र का उत्तर देना, डाकखाने पर अविश्वास और अपने पैसे का अपव्यय मात्र लगता है। उत्तर देना ही होता है।

कुछ ही दिन ठहरिए। अब 'सम्मति' का नंबर है। क्या बिना पुस्तक पढ़े ऐसी 'सम्मति' नहीं दी जा सकती, जिससे न तो 'पढ़ना' प्रमाणित हो और न 'न पढ़ना' ही! लेकिन इससे लाभ क्या? बहुत लोगों से यह सधता है, कुछ से नहीं भी सधता। अब यदि आपने अब तक बिना पुस्तक पढ़े 'सम्मति' देना नहीं सीखा, तो आपके पास दो ही रास्ते हैं—या तो सब काम छोड़कर पुस्तक पढ़िए, अन्यथा मौनं सर्वार्थसाधकं का जप करते हुए चुप्पी साध जाइए। एक-दो 'रिमाइन्डरों' के लिए तो आपको तैयार रहना ही चाहिए।

यदि आपने जैसे-तैसे पुस्तक पढ़ ही ली, तो आपका कर्त्तव्य है कि 'प्रकाशनार्थ' तथा 'विज्ञापनार्थ' दो-चार अच्छे-अच्छे वाक्य अवश्य भेजें। इसी का नाम 'सम्मति' है। अन्यथा, आप बताइए कि सैकड़ों पुस्तकों के बारे में जो सैकड़ों सम्मतियाँ छपती हैं, क्या उनमें से कोई एक पुस्तक भी इस योग्य नहीं होती, जिसके बारे में किसी की भी कोई खराब 'सम्मति' हो। 'सम्मति' का मतलब ही है 'विज्ञापनार्थ' दो-चार अच्छे वाक्य लिख देना।

आप चाहें तो अपनी मित्रता से हाथ धोने के मूल्य पर अपनी 'यथार्थ सम्मति' भेजने का दुःसाहस कर सकते हैं। यदि वह आपके और आपके मित्र के दुर्भाग्य से 'अच्छी' न हुई, तो वह प्रकाशित तो कभी होगी ही नहीं, उसे लिखने में आपने जो समय खर्च किया, जो कागज-स्याही का खर्च हुआ, जो डाक-टिकट लगा, सब व्यर्थ। बड़ा सौभाग्य मानिए यदि आपकी 'सम्मति' आपकी मित्रतारूपी तराजू का पासंग न बने। यदि कहीं किसी ने पुस्तक को पढ़ने योग्य ही नहीं समझा तब तो उसकी मुसीबत है। लेखक का पत्र आने पर वह मौन भी साधे रहे, किन्तु साक्षात् भेंट होने पर क्या करेगा? पहला प्रश्न होगा—"पुस्तक मिली?" कहना ही होगा—"जी हाँ" "पढ़ी ही होगी।" "नहीं पढ़ी" कहने के लिए साहस चाहिए। विचार बहुत करेगा, तो घुमा-फिराकर, सूखी हुई जबान से इतना ही तो प्रकट कर पायेगा कि समय नहीं मिला। लेकिन दूसरी बार भेंट होने पर क्या करेगा? तब यदि कहीं बिचारे गरीब ने किसी भी डर से—दुबारा सच न बोल सकने के ही कारण कह दिया 'हाँ पढ़ी थी' अथवा यही कह दिया कि 'देखी थी' तो उसे तुरन्त दूसरे प्रश्न का मुकाबला करना होगा। दूसरा प्रश्न यह होगा कि आपको अमुक स्थल कैसा लगा? उसे झख मारकर स्वीकार ही करना होगा कि उस गरीब ने तो पुस्तक को केवल 'देखा था', और 'देखा था' का मतलब 'पुस्तक पढ़ना' नहीं है।

सुना है किसी यूरोपियन विद्वान ने स्थाईरूप से एक ही पत्र की बहुत सी प्रतियाँ नकल कराकर रख ली थीं। किसी की पुस्तक मिलने पर वह पहला काम यही करता था कि खाली जगह में पुस्तक का नाम भरा और लेखक अथवा प्रकाशक के पास, जो भी पुस्तक भेजनेवाला हो, भेज दिया। पत्र में पुस्तक की पहुँच के आगे अंग्रेजी का यह उभयार्थी वाक्य लिखा रहता था कि "आई शैल लूज नो टाइम इन रीडिंग इट" अर्थात् (१) मैं इस पुस्तक को अविलम्ब पढ़ना आरम्भ करूँगा। (२) मैं इसके पढ़ने में अपना थोड़ा-सा समय भी अपव्यय न करूँगा। बिचारे ने ठीक ही तो किया था। हिन्दी में इस तरह का वाक्य उभयार्थी बना सकना एक अच्छा साहित्यिक मनोरंजन होगा। पुस्तक

पढ़ी जाय अथवा न पढ़ी जाय, पुस्तक आपको अच्छी लगे यह सब गौण है। असली बात यह है कि आप अखबार में छापने के लिए कुछ लिखकर दे सकते हैं या नहीं ?

'सम्मति' की ही बड़ी बहन तो 'समालोचना' है। वह भी किसी-न-किसी 'पत्र' के सम्पादक अथवा उसके किसी-न-किसी लेखक की 'सम्मति' ही तो होती है। पत्र में प्रकाशित होने मात्र से ही वह पत्र की 'सम्मति' अथवा 'समालोचना' समझी जाती है। हाँ, समालोचना आकार में सम्मति से बड़ी ही होती है।

आजकल प्रायः हर पत्र पर लिखा रहता है कि समालोचनार्थ दो पुस्तकें आनी चाहिए। एक 'समालोचक' के लिए दूसरी समाचारपत्र अथवा सम्पादक के पुस्तकालय के लिए। लेखकों और प्रकाशकों की शिकायत प्रायः सुनने को मिलती है कि दो-दो पुस्तकें मंगा लेने पर भी 'समालोचना' नहीं की जाती। इसीलिये अनेक सम्पादक अब 'समालोचनार्थ पुस्तक भेजने' और 'समालोचना' कराने के झंझट से बचने के लिए लेखक वा प्रकाशक को ही लिख देते हैं कि "किसी से लिखाकर भेज दीजिए, समालोचना छप जायगी।"

सुना है, जो अप-टु-डेट प्रकाशक हैं, वह तो पहले ही पुस्तक के साथ उसकी 'समालोचना' भेज देते हैं और सम्पादक उन्हें छापते भी हैं। कहीं-कहीं एक ही पुस्तक की तीन-तीन तरह की समालोचनाएँ भी कार्यालयों में पहुँचती हैं,—एक में थोड़ी-प्रशंसाए दूसरी में उससे अधिक और तीसरी में सबसे अधिक। सम्पादक के विवेक की परीक्षा करने के लिए यह उसी पर छोड़ दिया जाता है कि वह कौन-सी समालोचना प्रकाशित करे ?

इन पंक्तियों का लेखक कोई 'सम्पादक' तो नहीं, किन्तु उसका भी नाम एक 'मासिक' पर 'सम्पादक' के स्थान पर छपता है। बिना नाम छपे भी वह उस 'मासिक' के लिए उतनी मजदूरी कर सकता है। इसलिए नाम छपने-न-छपने से कुछ आता-जाता नहीं। किन्तु सम्पादक को होनेवाले अनुभव बहुत थोड़ी मात्रा में ही सही—कभी-कभी उसे भी होते ही हैं।

'समालोचना' के सिलसिले में पहला अनुभव तो उसे प्रायः रोज ही यह होता है कि पुस्तक तो आनन्द कौसल्यायन के पास भेजी जाती है और 'सम्पादक' से आशा की जाती है कि वह उसकी 'समालोचना' की व्यवस्था करे। किसी भी लेखक या प्रकाशक से यह आशा करना कि वह एक पुस्तक तो आनन्द कौसल्यायन के पास भेजे और फिर दो-दो पुस्तकें 'सम्पादक' के नाम भेजे, आनन्द कौसल्यायन की ज्यादती नहीं तो क्या है ? जब एक ही पुस्तक भेजने से काम चलता हो, तो दो और तीन क्यों खराब की जायँ ?

यदि पुस्तकें किसी के व्यक्तिगत नाम पर न आकर 'सम्पादक' के ही नाम पर आएँ और एक न आकर दो-दो भी आएँ, तब भी क्या समालोचना होनी ही चाहिए ? 'हाँ' और नहीं।

(१) यदि सम्पादक को सरसरी नजर से देखने पर ही पुस्तक ऐसी लगे कि यह न पढ़ने योग्य है और न किसी के पास समालोचनार्थ भेजने योग्य है; तो यह आवश्यक नहीं कि किसी अधिकारी विद्वान् का समय खराब करने के लिए उसके पास पुस्तक भेजी ही जाय। 'प्राप्ति-स्वीकार' का शिष्टाचार निभाया जा सकता है; वह भी समाचारपत्र द्वारा नहीं, व्यक्तिगत पत्र द्वारा ही पर्याप्त है।

(२) यदि समालोचनार्थ पुस्तक की दो प्रतियाँ आयें और पुस्तक समालोचना कराने योग्य लगे, तो उनमें से एक प्रति किसी अधिकारी विद्वान् के पास भेजकर समालोचना कराने का प्रयत्न अवश्य किया जाय।

(३) यदि समालोचनार्थ एक ही प्रति आए और उसे पढ़ने का स्वयं सम्पादक को अवकाश हो, तो एक ही प्रति आने पर भी समालोचना क्यों न हो।

(४) योग्य पुस्तकें किसी ने समालोचनार्थ न भी भेजी हों, तो भी उनकी समालोचनायें प्रकाशित होनी चाहिए।

(५) समालोचना सम्बन्धी आग्रही पत्र-व्यवहार के प्रति क्षमाप्रार्थी और क्षमा-शील ही, रहना उचित है।

—:※:—

चीन की राष्ट्रभाषा

चीन देश हमारे ही देश की तरह एक महान् राष्ट्र है और ऐसा, जिससे हमेशा हमारा मैत्री का सम्बन्ध बना रहा है। इस महान् देश में कितनी भाषायें प्रचलित हैं? वहाँ की कौन-सी भाषा राष्ट्रभाषा कहलाती है? यह हमारी स्वाभाविक जिज्ञासा है।

चीनी भाषा में राष्ट्र को कहते हैं 'को' और भाषा को कहते हैं 'य्वि'। इसलिए राष्ट्रभाषा को कहते हैं 'को-य्वि'। इस संयुक्त शब्द के पिछले आधे हिस्से का उच्चारण विशेष प्रयत्न करके भी देवनागरी में लिखा जाना असंभव है। तो चीन की कौन-सी भाषा चीन की 'को-य्वी' है?

हमारे राष्ट्रभाषा शब्द के अन्तर्गत 'राष्ट्र-लेखन' का अर्थ भी निहित रहता है; लेकिन चीन की स्थिति समझने के लिये हमें दो भिन्न शब्दों को दो अर्थों में प्रयुक्त करना होगा—लिखित-भाषा को 'राष्ट्र-लेखन' कहना होगा और बोली जानेवाली भाषा को 'राष्ट्रभाषा'।

चीन के बारे में पहली बात तो यह जान लेने की है कि चीनी भाषा की कोई वर्णमाला ही नहीं है। हम लोग प्रायः जितनी भाषाओं से परिचित हैं, सभी की कोई-न-कोई वर्णमाला है। इसलिए सचमुच हमारे लिए इस वर्णमाला-विहीन भाषा की बात समझना कठिन है। हमारी अपनी राष्ट्रभाषा हिन्दी में जितने शब्द हैं, यदि हम उनको एक-एक वर्ण मान लें और यह वर्ण तथा शब्द का भेद मिटा दें तब हम चीनीभाषा का आकार-प्रकार कुछ-कुछ समझ सकते हैं। हाँ, हमें 'चीनीभाषा' शब्द का प्रयोग न कर 'चीना-लेखन' का ही प्रयोग करना चाहिए। चीन का सौभाग्य है कि पश्चिम में शिंक्याङ् और उत्तर में मोङ्कु तथा कुछ पहाड़ी प्रदेशों को छोड़कर चीन का सारा 'राष्ट्र-लेखन' एक है। हम जैसा बोलते हैं, वैसा लिखने का प्रयत्न करते हैं; थोड़ा इधर-उधर हो जाने से बड़ी आपत्ति होती है। लेकिन चीन में 'लेखन' एक चीज है, राष्ट्रभाषा दूसरी। लगभग सारे चीन का राष्ट्र-लेखन उसी प्रकार एक है जैसे भोजपुरी, काशिका, राजस्थानी, मगही, ब्रज आदि बोलियाँ बोलनेवालों में परस्पर वाणी की भिन्नता होते हुए भी सबका लिखना-पढ़ना

हिन्दी-द्वारा ही होता है। और विशेषता यह है कि बोलियों में परिवर्तन होते हुए भी चीन का राष्ट्र-लेखन हजारों वर्षों से एक ही है और लगभग निश्चित है। जापान का भी राष्ट्र-लेखन उसे चीन की ही देन है। कुछ वर्ष हुए राहुल जी को अपने एक जापानी परिचित से बातचीत करने की आवश्यकता थी। उन्होंने अपने एक चीनी मित्र को माध्यम बनाया। देखा कि जो कुछ वह उन्हें अंग्रेजी में कहते हैं, वह उसे अपने 'राष्ट्र-लेखन' में कागज पर लिख देते हैं और तब जापानी सज्जन उसका उत्तर भी कागज पर लिख देते हैं। और वह कागज पर लिखा हुआ उत्तर चीनी मित्र राहुल जी को अंग्रेजी में समझा देते थे। चीनी मित्र राहुल जी से बोलकर बातचीत कर सकते थे, लेकिन जापानी सज्जन से लिखकर ही। इस एक ही बात से उस दिन मुझे यह स्पष्ट हुआ कि चीन के राष्ट्र-लेखन के ही अंतर्गत जापान भी है।

चीनी राष्ट्र-लेखन की तरह महान् आश्चर्य की बात है कि चीनी भाषा भी सारे चीन में लगभग एक ही है। केवल साहित्यिक ही नहीं; बोली जानेवाली भी। भाषा जब लिखी जाती है तब तो वह एकदम एक है, लेकिन जब बोली जाती है तब उसमें शब्दों के उच्चारण तथा मुहावरों आदि के प्रयोगों की विभिन्नता रहती है; अन्यथा बोली जानेवाली भाषा एक है। सारनाथ के चीनी मन्दिर में तीन भिक्षु हैं, तीनों चीन के तीन विभिन्न प्रदेशों के। मालूम करने पर पता लगा कि सब अपनी-अपनी बोली बोलते हैं; लेकिन एक दूसरे को समझ लेते हैं। हाँ, काँतोन प्रान्त की, जिसकी राजधानी काङ्जो (Cantoon) है, अलग अपनी बोली है। उसके उत्तर-पूर्व में फूत्येन प्रान्त है, जिसकी राजधानी फूचू (foochaw) है। 'चू' का अर्थ है नगर। यह दो बोलियाँ एक प्रकार से दो भिन्न-भिन्न भाषाएँ ही हैं।

हाँ, तटवर्ती होने के कारण शांघाई के दक्षिण की भाषा भी कुछ विशिष्ट है। पूर्व-दक्षिण की भाषाओं के उच्चारण में बड़ी भिन्नता है। एक ही भाषा बोलते हुए भी उच्चारण की कठिनाई के कारण बोलनेवाले एक-दूसरे को नहीं समझ सकते।

इन कुछ जगहों को छोड़कर शेष चीन के लोगों को शेष चीनवालों की भाषा आसानी से समझ में आ जाती है।

चीन में राष्ट्र-लेखन की एकता है, राष्ट्र-भाषा की एकता है; वहाँ एक तीसरी ही समस्या है। वह है उच्चारण की भिन्नता की। जिस प्रकार वैदिक स्वरों के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित उच्चारण हैं, उसी प्रकार अकेले पेपिंग (pei-ping) में ही चार उच्चारण प्रचलित हैं। काँतोन प्रान्त में

नौ (९) उच्चारण हैं। हम लोग उन उच्चारणों का अनुसरण कर ही नहीं सकते। चीनियों के लिए भी वे सहज नहीं हैं।

जिस प्रकार राष्ट्र-लेखन की एकता है, जिस प्रकार राष्ट्रभाषा की एकता है, उसी प्रकार राष्ट्र-उच्चारण में भी समानता तथा सादृश्य आ जाये— यही चीन-देश के 'कोय्वि' आन्दोलन का आदर्श और परमार्थ है। पेपिंग के उच्चारण को आदर्श उच्चारण मानकर उसी का सब जगह प्रचार किया जा रहा है, और वही बहुत कुछ पहले से स्वीकृत भी है।

यदि कोई जानना चाहे कि चीन में साक्षरता की क्या औसत होगी तो उसका सीधा उत्तर है कि चीन में कोई जन-गणना ही नहीं होती, जिसके आधार पर कुछ कहा जा सके। हाँ, इतना सत्य है कि इधर साक्षरता बहुत बढ़ी है। चीनी सरकार ने कालेजों और हाईस्कूलों के विद्यार्थियों पर चीनियों को साक्षर बनाने की जिम्मेवारी डाली है। अपने ग्रीष्मावकाश का—गर्मी की छुट्टियों का यह 'सदुपयोग' चीनी विद्यार्थियों के लिए लाजिमी है। वे रात्रि-पाठशालाओं में जाकर साक्षरता का प्रचार तो करते ही हैं, साथ ही सारे देश को युद्ध-जन्य परिस्थिति से भी परिचित रखते हैं। हम जानते हैं कि 'साक्षरता' शब्द का यहाँ व्यवहार हम अभ्यासवश ही कर रहे हैं, अन्यथा शायद 'सशब्दता' का व्यवहार होना चाहिए।

चीनी सरकार ने चार वर्ष की शिक्षा अनिवार्य कर रखी है। शहरों में तो अब शायद ही कोई निरक्षर होगा! हाँ, सभी गाँवों में अभी पाठशालायें नहीं चल रही हैं।

हम ऊपर कह चुके हैं कि चीनी भाषा में वर्ण-माला का कुछ काम नहीं। जितने ही अधिक शब्दों का ज्ञान जिसे होता है, वह उतना ही बड़ा पण्डित समझा जाता है। चीनी भाषा में शब्द-संख्या कोई ?०,००० है। उनमें से लगभग ५००० शब्दों की जानकारी होने से आदमी चीनी भाषा का अच्छा ज्ञाता कहलाता है। सामान्य दैनिक अखबार में ५००० शब्दों से काम पड़ता है। हम हिन्दीवाले चिल्लाते हैं, दुःखी हैं कि हमारे यहाँ कम-से-कम ७०० तरह के टाइप रखने से छपाई हो सकती है; और चीनी में कम-से-कम लगभग ५००० तरह के टाईप रखने से। कहाँ सात सौ और कहाँ पाँच हजार!

अज्ञानवश हम चीनी-लिपि या चीनी लिखित भाषा को 'चित्र-लिपि' कह देते हैं। लेकिन यह ठीक नहीं। लगभग तीन हज़ार वर्ष-पूर्व वह अवश्य चित्र-लिपि रही है। उस समय के हड्डियों और कछुओं के ऊपरी खोल में बने कुछ चित्र चीनी-कौतुकागारों की (नुमाइशघरों की) विशेषता हैं। बाद में कोई

तीसरी शताब्दी ई० पू० से चीन ने लिखने का एक सरल ढंग अपनाया और ६०० वर्ष के बाद उसे और भी सरल कर दिया। इस समय चीन में छपाई और हस्तलेखन की शैली में थोड़ा अन्तर है। छपाई बहुत वर्षों तक लकड़ी के ठप्पों की छपाई रही है। पूरा-का-पूरा पृष्ठ लकड़ी के ठप्पे पर उभारकर रख लिया जाता है। और फिर उससे कपड़े की छपाई की तरह कागज की छपाई होती रहती है। अब भी धार्मिक पुस्तकों में कहीं-कहीं यही छपाई चलती है। लेकिन, यूं चीन में भी अब छापे की मशीन का ही बोलबाला है।

वर्णमाला के न होने के कारण चीनी में कोई अच्छा टाइप-राइटर नहीं बन सकता। टाइप-राइटर के मामले में उर्दू की सी दशा है।

देवनागरी लिपि में लिखी जानेवाली तमाम भाषायें प्रायः दायें से बायें लिखी जाती हैं, उर्दू बायें से दायें। लेकिन चीनी भाषा न दायें से बायें और न बायें से दायें; किन्तु ऊपर से नीचे एक चित्र के बाद दूसरा चित्र बनाने की तरह लिखी जाती है।

जो एक बात, चीनी 'राष्ट्र-भाषा' की विशेषता है और जिस विशेषता के ही कारण हम उसे राष्ट्रभाषा की अपेक्षा 'राष्ट्र-लेखन' कहना पसन्द करते हैं, वह यह है कि 'चीनीभाषा' कभी बोली नहीं गई। जिस प्रकार महापंडित पाणिनि ने संस्कृत को व्याकरण के नियमों से बाँधकर ऐसा 'कूटस्थ' बना दिया कि हम लोगों की बोलचाल की भाषा दिन-पर-दिन परिवर्तित होती रहने पर भी संस्कृत जहाँ-की-तहाँ खड़ी है। कुछ-कुछ यही, चाल चीनी भाषा का है। लेकिन चीनी और संस्कृत में बड़ा अन्तर भी है। वह यह कि संस्कृत अब सामान्य व्यवहार की भाषा नहीं रही और चीनी भाषा सामान्य व्यवहार की भाषा है।

सौभाग्यशाली है वह महान् राष्ट्र, जो अपने राष्ट्र-लेखन की एकता की डोरी से बँधा हुआ है।

बंगाल का तेभागा आंदोलन

इस समय बंगाल में दो आंदोलन चल रहे हैं—एक व्यक्तिवादी और दूसरा जनवादी। एक रिपोर्ट हर पत्र में पढ़ने को मिल जाती है, दूसरे की मिली केवल 'जनयुग' में।

हम पहले आंदोलन की रिपोर्ट को बड़े ध्यान से खोज-खोजकर पढ़ते हैं। 'बापू' की पैदल यात्रा का नक्शा हमारी आँखों के सामने है। 'बापू' जा रहे हैं—उनकी चार काली-काली बकरियाँ और पाँच मेमने साथ-साथ। दूध की ओर से निश्चिन्त, फल बापू को कहीं-न-कहीं मिल ही जाते होंगे, या न जाने वह भी थोड़े बहुत साथ ही में रहते हों। 'बापू' जितने बड़े साधक हैं, उतने ही बड़े व्यवस्थापक भी तो हैं।

सुना है, बापू को अपनी तेल-मालिश भी स्वयं अपने हाथों करनी होती है, और यह भी है कि एक दिन रोटी भी स्वयं सेकनी पड़ी। 'इन्द्र' का आसन ऐसी ही तपस्याओं से डोलता आया है।

'बापू' की यात्रा का कार्यक्रम पहले से निश्चित है, ज्ञात है। वह जहाँ-जहाँ जाते होंगे, बकरियाँ और मेमनों के साथ। सोहरावर्दी के पुलिसमैन भी आगे-पीछे चलते होंगे। सुना है, इस यात्रा की 'फिल्म' भी बन रही है। अखबारवालों और फिल्मवालों के लिए हर चीज "न्यूज़" है और यह तो उनके लिए निस्सन्देह बहुत ही बड़ी "गुड कॉपी" है।

रोज की प्रार्थना में 'बापू' का उपदेश होता रहा है। खबर आई है कि एक दिन अल्ला-अल्ला करनेवाले मुसलमान भाई 'राम-नाम' की धुन से भड़ककर उठकर चले गए। 'बापू' के लिये 'अल्ला-अल्ला' और 'राम-नाम' दोनों बराबर हैं, लेकिन तब भी 'अल्ला-अल्ला' के लिए 'बापू' राम-नाम' थोड़े ही छोड़ सकते हैं।

सोमवार के दिन 'बापू' मौन रहते हैं। बीच में समाचार आया था कि मौन के दिन में शायद कुछ परिवर्तन हुआ। तो भी मौन का दिन है, उस दिन बापू जनता को "मौन सन्देश" देते हैं, जो उनके हाथ का लिखा रहता है और जो (अथवा जिसका अनुवाद) जनता को सुना दिया जाता है।

अभागे हैं हम हिन्दीवाले! आज तक इतनी व्यवस्था भी नहीं कर सके कि गांधीजी के वे साप्ताहिक 'मौन-सन्देश', उन्हीं के अक्षरों में, शब्दों में, हम दूर-स्थित पाठकों तक भी पहुँच सकें। उन मौन-सन्देशों के अंग्रेजी-अनुवाद होते हैं और फिर उन अँग्रेजी अनुवादों के हिन्दी-अनुवाद होते हैं। उन अनुवादों के अनुवादों को हम पूज्य बापू के "मौन सन्देश" कहकर छापते हैं। यह सब होता है, इस युग में. जब हमारी राष्ट्रीय सरकार अधिकारारूढ़ हैं और उन्हें अपनी राष्ट्रभाषा या कौमी जबान की इतनी चिन्ता है।

क्या हिन्दी का कोई अखबार भी उन 'मौन सन्देशों' के ब्लाक बनवा कर छापने की व्यवस्था नहीं कर सकता?

दूसरा आंदोलन है बंगाल का ही नहीं, देश भर का सबसे बड़ा जन-आंदोलन तेभागा-आंदोलन। इस आंदोलन के सैनिक और उन सैनिकों में से ही पैदा हुए उनके अपने नेतागण हैं—बंगाल के वे किसान, जो जमींदारों और धनी किसानों से बटाई पर जमीन लेते हैं। बंगाल के ४१ प्रतिशत किसान इसी श्रेणी के हैं। वे कहलाते हैं 'अधियार'। इन अधियारों की क्या स्थिति है?

फसल का आधा भाग जमींदार लगान की जगह ले लेता है। इसलिए शायद ये 'अधियार' कहलाते हैं। जो आधा बचता है, उसमें से 'अधियार' ने जो जमींदार से धान उधार ली थी, उस पर २०० या ३०० प्रतिशत की दर से सूद काटा जाता है। इतना ही नहीं ११ तरह-तरह के अलग-अलग गैरकानूनी करों की धान काटी जाती है। किसान को मुश्किल से बीघे पर १ मन धान मिलता है।

कोई यह न समझे कि जमींदार और 'जोतदार' अधियार किसानों की मेहनत को लूटकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। साधारण समय में वे हर साल १० करोड़ रुपये किसानों से लगान के रूप में वसूल करते थे। १९४३ में अकाल के समय उन्होंने अन्न की चोरी करके एक अरब ५० करोड़ रुपये का गैर-कानूनी मुनाफा कमाया।

श्री० पी० सी० जोशी के लेख से लिए गए ये आंकड़े क्या असत्य हैं?

इन 'अधियारों' ने तंग आकर अब अपने धान कूटने के मूसलों को अपने हाथ में लिया है और स्त्रियों ने उन झाड़ुओं को, जिन पर नौकरशाही सरकार को दफा १४४ लगानी पड़ी है। इनकी दो माँगें हैं:—

(१) जिन खेतों पर हमारे पुरखों ने अपनी हड्डियाँ गलाईं, उन्हें हम जीते जी नहीं छोड़ेंगे।

(२) हम 'जोतदार' को फसल का एक-तिहाई भर ही देंगे। एक दाना अधिक नहीं। दो-तिहाई स्वयं लेंगे, एक आना कम नहीं, क्योंकि एक-तिहाई हमारे बाल-बच्चों के लिए चाहिए और एक तिहाई से खेती का खर्चा चलेगा।

इन माँगों की पूर्ति के लिए अधियारों ने क्या किया है ? "उन्होंने अपना संगठन बनाया है—बहुत सरल किंतु बहुत मजबूत। गाँव के सारे किसान इकट्ठे होकर गाँव-कमेटी चुनते हैं। वह पूरी लड़ाई का संचालन करती है। उसका हुक्म हर किसान के लिए कानून है। उसकी मातहती में नौजवान किसानों का स्वयंसेवक-दल बनाया जाता है, जो गाँव और किसानों की फसल की रक्षा करता है। जमींदारों के गुण्डे दल बाँधकर और हथियार लेकर फसल छीनने, किसानों के घर जलाने और उनकी बहू-बेटियों की इज्जत लूटने आते हैं, परन्तु जब इन नौजवान किसानों से उनका सामना होता है, तब वे हमेशा भागते ही दिखाई देते हैं।

"तेभागा-आंदोलन सैकड़ों और हजारों नए नेताओं को जन्म दे रहा है, ये नए प्रकार के नेता जनता के पुत्र हैं। ये जनता के बीच से पैदा हुए हैं।"

इस आंदोलन को कैसे दबाया जा रहा है ?

हर जिले में सैकड़ों गिरफ्तारियाँ हो चुकी हैं। किसान-नेताओं को अन्तर्धान होकर काम करना पड़ रहा है। सभा और जुलूस पर रोक लगी हुई है, गाँव में हथियारबन्द पुलिस किसानों के घरों को जलाती, औरतों को, बच्चों को मारती-पीटती और अन्धाधुन्द गोली चलाती घूम रही है।

यह आंदोलन बंगाल के किसी एक-आध जिले में नहीं है। वह वहाँ के जलपाईगुड़ी, दिनाजपुर, रंगपुर, मैमनसिंह, ढाका, पबना, जैसोर, खुलना, २४ परगना तथा मिदनापुर आदि जिलों में फैल गया है। हर्ष है कि नोआखाली का मनहूस बंगाल मर रहा है और तेभागा आंदोलन का नया बंगाल जन्म ले रहा है।

बापू आज बंगाल के हिंदू-मुसलमानों के दिलों को मिलाने के लिए गाँव-गाँव प्रार्थना करते और उपदेश देते घूम रहे हैं। हिंदू-मुसलमानों के दिलों की एकता का एकमात्र मार्ग तेभागा-आंदोलन जैसे आंदोलनों की सफलता में ही छिपा है।

'मजहब' के आधार पर एकता कराने के उपदेश भर प्रयत्नों से मजहबी चेतना बढ़ती है और यह मजहबी चेतना ही तो बहुत सी खुराफातों की जड़ है।

स्वार्थी लोगों के हाथों मजहबी दीवानों को दिन-रात उल्लू बनते देखकर भी हम न जाने क्यों 'मजहब' के फेर में फँसते चले जा रहे हैं।

उच्चतम भावनाओं से प्रेरित पूज्य बापू की ऐतिहासिक यात्रा भी मजहबी चेतना का भयानक कुचक्र है। काश ! बापू इन मजहबी चेतनाओं की ओर ध्यान देकर उन्हें जीवन प्रदान न करें।

पूज्य 'बापू' का स्थान जन-आन्दोलनों के शिखर पर है, इस हिंदू-मुस्लिम एकता की भूल-भुलैया में नहीं। एकमात्र जन-आन्दोलनों से 'हिंदू-मुस्लिम-एकता' भी सम्भव है।

ओह ! ऐसी दरिद्रता !

रेल में आप चढ़े नहीं कि भिखमंगों ने आपको हैरान करना शुरू किया नहीं। उस दिन गोआ में एक पुलिस-मैन मुझसे ही पूछ बैठा—क्या करते हो? मैंने कहा, मतलब? "मतलब, पेशा क्या है?" उत्तर दिया—भीख माँगना। पुलिसमैन ने मुझे गाड़ी में बिठाया और सीधा थाने ले गया। मेरे मित्र और मेजबान ने बहुत समझाया, किन्तु वह एक न माना। थाने जाकर एक यूरोपियन अफसर को बड़ी कठिनाई से हम यह समझाने में सफल हुए कि यद्यपि मेरा पेशा भीख माँगना ही है, लेकिन गोआ में तो मैं अपने एक मित्र का अतिथि हूँ, इसलिए गोआ सरकार के विरुद्ध निरपराधी।

गोआ सरकार एक यूरोपियन सरकार है। वहाँ भीख माँगना निषिद्ध है। भारत सरकार भी तो कल तक यूरोपियन सरकार रही है, यहाँ भीख माँगना निषिद्ध क्यों नहीं?

इँगलैण्ड में भीख माँगने के विरुद्ध कानून है। वहाँ आपको आदमी दियासलाई बेचते और लड़कियाँ फूल बेचती मिलेंगी। पहचाननेवाले पहचानते हैं, ये सब भिखमंगे हैं। कुछ पैसे हाथ में थमा ही देते हैं। उनकी संख्या अधिक नहीं। उन भिखमंगों को वहाँ कुछ न कुछ बेचने का बहाना करना ही पड़ता है। लेकिन अपने यहाँ रेलों में, एक के बाद एक ताँता बँधा रहता है।

यह कौन है? काला-कलूटा, पाजामा उचित-अनुचित स्थान से फटा हुआ। कहता है—मैं जानवरों की बोलियाँ सुनाता हूँ। वह कुत्ते के पिल्ले की तरह बोलता है, बिल्ली के बिलुंगड़े की तरह बोलता है, बकरी के मेमने की तरह बोलता है। पक्षियों में तोता, चिड़िया, मैना की तो बात ही क्या अनेक सामान्य-तया अपरिचित पक्षियों की बोलियाँ बोलता है। यह कुछ माँगता है। दे दो दो चार पैसे। इसे देने में हर्ज नहीं। कोई चतुर पारखी, सरकसवाला या सिनेमा-वाला, इसे साथ कर ले तो हजारों कमाये। दो चार आने लेकर यह पैसे देनेवालों और न देनेवालों दोनों का मनोरंजन करता है।

यह कौन है? अनाथालय का अन्धा लड़का, जो संगीत सीखकर अब कहीं कहीं संगीताध्यापक हो गया। छुट्टी पर घर गया था। बम्बई वापस

लौटने को पैसे नहीं। खाने तक का टोटा है। कुछ अच्छे सुन्दर भजन याद हैं। इसे भी कुछ देने में हर्ज नहीं। हर चीज के लिए आप कुछ मूल्य देते ही हैं, अपने संगीत-प्रेम के लिये भी कुछ न कुछ क्यों न दें? फिर यह गायक पैसे देनेवालों तथा न देनेवालों सभी का मनोरञ्जन करता है।

यह कौन हैं? यह इस या उस दवाई के बेचनेवाले हैं। इनकी प्रत्येक दवाई प्रायः प्रत्येक बीमारी का इलाज कर सकती है। यदि आप शरीर-शास्त्र तथा चिकित्सा-शास्त्र के बारे में उतने ही अनभिज्ञ हैं जितना अनभिज्ञ अपने देश के प्रायः हर देशवासी तो आप इन्हें भी दवाई खरीदने के नाम पर कुछ न कुछ दे ही सकते हैं। उस दिन एक आँख की दवाई बेचनेवाला न जाने कितने लोगों की आँख में दवाई डालकर अंधा बनाकर चला गया।

हाँ; जीनतान सदृश प्यास बुझाने की गोलियों पर कुछ पैसा खर्च करने में हर्ज नहीं।

यह कौन है? यह गोशाला के लिए चन्दा माँगनेवाला है। इसके गले में चपरास, माथे पर टीका है, और मुँह में एक रटा हुआ लेक्चर है। एक गीत भी है—गउशाला की करो तैयारी प्राण बचे गउमाता के। पता नहीं इस 'गउशाला की करो तैयारी' का क्या मतलब है? उसके पास छपी हुई रसीदें भी हैं। यदि आपको सच-झूठ से कोई सरोकार नहीं, यदि आप गउमाता के नाम पर चन्दा देने मात्र से नरक-यातना से बचने में विश्वास रखते हैं, तो आप इन पंडित जी को चन्दा दे सकते हैं। इनके भाषणों से कसाइयों के खिलाफ भावना जागृत होती है। किन्तु न उन हिन्दुओं के खिलाफ जो बूढ़ी गौवों और बूढ़े बैलों का व्यापार करते हैं, और न उन अँग्रेजों के खिलाफ जो खुले आम गोमांस खाते हैं। अपने देश जैसी अंधी गोभक्ति किसी देश में नहीं। दूसरे देशों की बकरियाँ आजकल कामधेनु बन गई हैं और अपने देश की गौवें बकरियाँ भी नहीं रहती दिखाई देतीं।

यह कौन हैं? यह यतीमखाने के लड़के हैं, और यह अनाथालय के। भगवान् इनके माता-पिता को तो आकाश में कहीं ले ही गया। अब इन्हें कहीं जमीन पर भी एक जगह इकट्ठे रहने नहीं देता। इन लड़कों को भी एक एक लेक्चर रटा हुआ है। किसी किसी का गला थोड़ा सुरीला भी है। आप चाहें तो इन्हें पैसे दे सकते हैं। किन्तु गाड़ी रुकते ही आप इनमें से अधिकांश को उन पैसों की बीड़ी लेकर पीते देखेंगे।

यह कौन है? अन्धा है। यह एक गाड़ी से दूसरी गाड़ी में चला जाता है। कभी कभी चलती गाड़ी के पावदान पर भी खड़ा रहता है। इसे भी आप

कुछ दे सकते हैं, क्योंकि आपके देश में जब आँखवाले बेकार पड़े हैं तो यह तो बेचारा बिना आँखवाला है।

यह कौन है ? यह लूला है और यह लँगड़ा। इन्हें भी आप कुछ न कुछ दे ही सकते हैं। बेचारे को बीड़ी पीने को हो जायेगा।

यह कौन है ? यह कोढ़ी है। इसे भी कुछ न कुछ दे दीजिए, नहीं तो सामने खड़ा रहेगा, घिना करेगा। आपको क्या जरूरत पड़ी कि कोढ़ के कारणों पर विचार करें। आप एक पैसा दीजिए और अलग होइए।

यह कौन है ? यह कोई एक सेठानी हैं। इन्होंने तीसरे दर्जे का एक-चौथाई हिस्सा अपने लिए रिजर्व कर रखा है। पीछे गद्दा लगा है। दाँये बाँये गद्दी है। नीचे पानी की गागर है। पास में टोकरी है। जिसमें पूड़ियाँ हैं, लड्डू हैं, मठ्रियाँ हैं और अचार है। आस-पास अनेक दो चार संगी साथी हैं, बच्चे हैं और उन्हें खिलानेवाला नौकर। नागपुर में संतरे होते हैं, किन्तु आजकल वे बाहर चले जाते हैं। यहाँ इस काटोल स्टेशन पर सन्तरे ले लीजिए। यह लड़के एक रुपये में टोकरी देते हैं, २५-३० सन्तरों की। उनमें ऊपर अच्छे और नीचे कम अच्छे, कभी-कभी खराब भी रहते ही हैं। कभी एक में सवा की चीज मिल जाती है और कभी ।॥) की क्या आठ आने की भी नहीं। यात्रियों में लालच और अविश्वास दोनों रहता है। इन्हीं दोनों भावनाओं की रेल-पेल में यह पंद्रह बीस मिनट की दुकानदारी चलती है। बेचनेवाले नीचे और खरीदने-वाले ऊपर।

यह सेठानी जी भी सन्तरे लेना चाहती हैं। किन्तु न जाने क्यों सन्तरे बेचनेवाले लड़के को इनका विश्वास ही नहीं। सच्ची बात यह है कि उसे किसी का भी विश्वास नहीं। कोई कोई यात्री सन्तरे लेकर बिना पैसा दिये चल देते हैं, या उनकी रेल ही चल देती है। इसीलिए ये सन्तरे बेचनेवाले लड़के पहले रुपया लेने का आग्रह करते हैं।

सेठानी बोली—सन्तरे दो न, रुपया देती हूँ।

लड़का—रुपया दो।

सेठानी—सन्तरे दो।

लड़का—रुपया दो।

इसी प्रकार कई बार दोनों ओर की माँग दोहराई गई। अन्त में सेठानी ने रुपया निकाला और लड़के की ओर बढ़ाया। लड़के ने सन्तरे की टोकरी दे दी। और यह क्या ! सेठानी ने हाथ खींच लिया। लड़का पैसा माँग रहा है। सेठानी कहती है, ठहरो। अब उसने लड़के के सारे सन्तरे अपने पास अन्दर

गिरा लिये और उनमें से खराब खराब चुनकर बाहर फेंकने लगी। लड़के से बोली—यह सन्तरे बदलकर दो। तब रुपया मिलेगा। लड़का सन्तरे कहाँ से दे ? गाड़ी चल दी। सेठानी यही कहती जा रही थी। लड़के ने रुपये लेने के लिए कुछ और सन्तरे सेठानी को दिये।

जिस हाथ से सेठानी रुपया पकड़े थी, उस हाथ में सोने का चूड़ा था।

लेकिन तब भी वह कितनी दरिद्र थी ! क्या सभी से अधिक ? हाँ......सभी से अधिक।

—:x:—

साधु

एक साधु के बारे में यह प्रसिद्ध था कि वह नमक को चीनी बना देते हैं। एक दिन किसी ने पूछा—

"महाराज! लोग कहते हैं कि आप नमक को चीनी बना देते हैं, क्या यह बात ठीक है?"

"ठीक क्या है, भाई! एक गृहस्थ के यहाँ भोजन करने गये थे। उसने खीर बनाई थी। भूल से खीर में चीनी की जगह नमक पड़ गया। खाते ही मालूम दिया। लेकिन सोचा, जो पड़ना था सो तो पड़ ही गया, अब बोलने से क्या लाभ? शिकायत करने से दाता का मन मैला हो जा सकता है। हम मन मारे खाते रहे, और बिना कुछ बोले सारी खीर खा गये।"

"लेकिन, फिर घरवालों ने भी तो खाई होगी?"

"हाँ, जब घरवालों ने खाई तभी तो उन्हें पता लगा कि खीर में नमक है। उन्होंने सोचा—ऐसी खीर साधु महाराज कैसे खा गये? अवश्य नमक की चीनी बना ली होगी, तब से यह बात चल गई कि हम नमक को चीनी बना देते हैं। हमारा इसमें कोई कसूर नहीं।"

(२)

गाड़ी में दो मुसाफिरों को और कोई काम न रहने से शास्त्रार्थ छिड़ गया। एक बोला—"इन साधुओं को—हरामखोरों को कभी कुछ न देना चाहिये। समाज के कुछ भी तो काम नहीं आते।"

दूसरे ने कहा—"सभी साधु समान नहीं होते। अनेक साधु अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार हरि-भजन करते हैं। उन्हें दान देने से पुण्य होता ही है, और फिर कई साधु तरह तरह के उपदेशों से जनता का कल्याण करते हैं। ऐसे साधुओं के भरण-पोषण की चिन्ता तो निश्चय ही धर्म है।"

यह सारी चर्चा गाड़ी में बैठे एक हट्टे-कट्टे साधु को सुनाकर ही की जा रही थी और बड़ी देर तक होती रही। साधु चुपचाप बैठा था। चर्चा इतनी अधिक देर तक होती रही कि वह लगभग सभी मुसाफिरों की सार्वजनिक चर्चा बन गई। आखिर चर्चा समाप्त होने को थी, समाप्त हुई। जो भाई साधुओं

को कुछ भी देने के विरोधी थे, वह एक स्टेशन पर किसी काम से नीचे उतरे। बाद में जब चढ़ने लगे तो दरवाजा बन्द करते समय साधु का हाथ दरवाजे के भीतर था। एकाएक दरवाजा बन्द कर दिये जाने से साधु की एक अँगुली दब-कर ऐसी हो गई जैसे रेल के पहिये के नीचे रखा हुआ पैसा। साधु ने एक नजर अँगुली को देखा और फिर मुट्ठि बन्द करके दाँतों पर दाँत रख चुपचाप बैठ रहा। जिस किसी की भी नजर साधु की अँगुली की ओर गई, उसी की चीख निकल गई और उसने दाँतों तले अँगुली दबाई। लेकिन साधु था कि जैसे कुछ हुआ ही नहीं। यदि साधु किसी को कुछ कहता सुनता तो उन महाशय को भी शायद कुछ कहने सुनने—शायद क्षमा माँगने—का अवसर मिल जाता। लेकिन किसी को इतनी गहरी चोट पहुँचाकर क्या क्षमा-याचना मात्र से छुट्टी पाई जा सकती है? अपराधी के लिए कोई रास्ता न था। थोड़ी ही देर के बाद यात्रियों ने देखा कि वही महाशय जी, जो साधु को कुछ भी देना 'पाप' बता रहे थे, कुछ दूध, कुछ मिठाई, कुछ पूरियाँ लिये साधु के सामने हाजिर हैं। महात्मा बोले—"भाई! शायद तुम ही तो कह रहे थे कि साधु को कुछ भी खिलाना पाप है?"

"महाराज! मैं आपकी साधुता देखकर बड़ा प्रभावित हुआ हूँ, धन्य हैं आप!"

"भाई! इसमें साधुता क्या है? तुम्हारी गलती से लग गई तो भी चोट ही है, अपनी गलती से लग गई तो भी चोट ही है। चोट लग जाने पर उसे सहने के सिवा चारा नहीं। अपनी यह मिठाई उठा लो।"

"नहीं महाराज! इसे ग्रहण कर लें। मुझे संतोष होगा।"

"भाई! ऐसी तुच्छ बातों से प्रभावित होकर अपने सिद्धान्त को छोड़ना अच्छा नहीं।"

साधु ने मिठाई नहीं ही ग्रहण की।

(३)

"महाराज, साधु को भी कुछ काम करना चाहिए।" सेठजी ने आधा हँसी में और आधा गंभीरता से कहा।

महात्मा सेठजी के बाग में रहते थे। कभी बाग से बस्ती में जाना होता तो महात्मा कभी सेठजी के ताँगे पर न जाते। पैदल ही चलने का आग्रह रखते। सेठजी की बात सुनी, तो बोले—"हाँ, ठीक है।"

शाम को सेठजी बाग में आये तो देखा कि महात्मा १०५ डिग्री बुखार लिये पड़े हैं। सेठजी ने घबराकर पूछा—

"महात्मन् ! क्या हुआ ?"

"कुछ नहीं, आपने कहा था कि साधु को भी काम करना चाहिये। अपने कामचोर तो हैं नहीं। डटकर आठ घंटे कुदाल चलाई। अभ्यास न होने से ज्वर आ गया। और कोई बात नहीं।"

साधु के ज्वर ने तीन दिन लिये।

× × ×

सेठ और साधु साथ साथ चले जा रहे थे। जितना पैदल चल सकते थे मजे में चले गये। आगे आई एक नदी। तैरना सेठ भी जानते थे, किन्तु प्रश्न था जूतों का। साधु-महाराज तो नंगे पाँव थे ही, किन्तु उनके भक्त सेठ के पाँव में जूते थे। साधु बोले—

"आप तैरना जानते ही हैं, तैरकर पार हो जायें। जूतों की चिंता न करें। मुझे एक तरकीब आती है। मैं आपके जूते उस पार ले आऊँगा और एक बूँद न लगने पायेगी।"

भक्त ने सोचा—साधु महात्मा हैं। न जाने कौन करामात हो। जूते छोड़ और तैरकर पार हो गया।

साधु ने भक्त के जूते लिये, उन्हें कपड़े से अपने सिर पर बाँधा और स्वयं भी तैरकर उस पार हो गये।

नदी पार पहुँचकर जब साधु ने अपने सिर पर से भक्त के जूते उतार-कर उसके पाँव में डाले तो भक्त जमीन में गड़ गया।

(४)

एक महात्मा नदी के तट पर अपने आश्रम में रहते थे। भक्त चने भिगोकर दे जाया करता था। साधु का यही प्रातःकाल का जलपान था। एक दिन चने आने पर महात्मा बोले—"रख दे। जलेबी बन जायेंगे, तब खायेंगे।"

भक्त बैठ गया क्या जाने, महात्मा हैं। कोई करामात दिखावें।

बड़ी देर हो गई बैठे-बैठे। दो घंटे बाद महात्मा बोले—"लाओ अब खा लें।"

भक्त बोल उठा—"महात्मन् ! वह तो चने के चने हैं। जलेबी बने ही नहीं।"

साधु ने उत्तर दिया—"मूर्ख कहीं का। पहले भूख अधिक नहीं थी। उस समय वह चने थे। अब भूख लगी है और कड़ाके की। अब वे जलेबी हैं।"

कौन जाने किसी ने इन महात्मा के बारे में भी यह प्रसिद्ध कर दिया हो कि वह चनों की जलेबी बनाते हैं !

(५)

ट्रेन में सिविल सर्विस के देशी साहब बहादुर चले जा रहे थे—फर्स्ट क्लास के डिब्बे में; और उसी में थे बर्मा देश के एक बौद्ध साधु—फुंगी।

चाय का समय हुआ तो ब्वाय एक ट्रे में दूध, चीनी, चाय रखकर ले आया। फुंगी महाराज ने पहले मुँह में थोड़ी चाय उँड़ेल ली, फिर दूध पी लिया और उसके बाद चीनी के दो चम्मच लिये। लड़के से बोले "ट्रे ले जाओ।"

इँगलैण्ड-रिटर्न्ड सिविल सर्वेन्ट साहब बड़े प्रभावित हुए। ओह! देश में अभी ऐसे सरल-हृदय महात्मा हैं! नाम-धाम पूछने पर पता लगा कि वह रङ्गून के एक बड़े विहार के अध्यक्ष हैं और प्रसिद्ध आचार्य।

एक दिन सिविल सर्वेंट साहब ने बहुत सा फर्नीचर गाड़ी पर लदवाया और उन्हीं आचार्य के विहार में पहुँचे। देखा, चटाई पर बैठे शिष्यों को अध्ययन करा रहे हैं। बड़ी श्रद्धा से जाकर प्रणाम किया। आचार्य बोले—

"इस गाड़ी में क्या है?"
"विहार के लिए फर्नीचर।"
"किसको देने को लाया है?"
"आप ही के लिए।"
"तो हमको दे दिया?"
"जी दिया।"
"दे दिया?"
"जी दिया।"
"दे दिया?"
"जी दिया।"

आचार्य ने तीन बार कहलवाया। जब उसने तीसरी बार भी "जी दिया" कहा, तो आचार्य ने किसी एक आदमी को बुलाकर कहा—"ले जाओ इसे। हमें इसकी जरूरत नहीं है।"

आचार्य चटाई पर ही बैठे पढ़ाते रहे।

(६)

शहर के सेठ साहब की धर्म-भावना की ख्याति थी। आये गये साधुओं को तीर्थ-यात्रा करा देते हैं। एक दिन एक साधु पहुँचे और बोले—

"सेठ साहब! हरिद्वार जाना है—टिकट ले दो।"

"नहीं।"

"हमें ही नहीं ले देंगे, या किसी को भी नहीं लेकर देते?"

"नहीं लोग टिकट बेचकर खा जाते हैं।"

"अच्छी बात है, तब तो टिकट लेकर ही जायेंगे।"

साधु सेठ के दरवाजे पर बैठ गया। बैठा रहा पूरे चौबीस घंटे। सेठ साहब को भी थोड़ी जिद चढ़ गई थी। दूसरे दिन लोगों ने कहा—"ले दीजिए सेठ साहब! कल से बैठा है।"

सेठ बोला—"अच्छा लो उठो। बताओ तीसरे दर्जे का क्या लगता है?"

"तीसरे दर्जे का टिकट तो हम कल लेते, आज तो इन्टर क्लास का लेंगे।"

सेठ को गुस्सा आ गया। बोला—इतना नखरा! तब पड़ा रह।

साधु २४ घंटे और बैठा रहा। लोगों ने कहा—"सेठ साहब! इन्टर का ही ले दो।"

"अच्छा लो, इन्टर का लो, जान छोड़ो।"

"इन्टर का तो कल लेते, आज तो सेकिन्ड का लेंगे।" सेठ को ही नहीं आस-पास के लोगों को भी गुस्सा आया, बोले—"देखो, उसकी बदतमीजी! बैठा रहने दो बेईमान को।"

साधु के मुँह पर गुस्सा क्या, खीझ भी नहीं थी। वह बिना कुछ खाये-पिये बैठा रहा। अगले दिन कुछ भक्तों का मन पसीजा। उन्होंने कहा—"सेठ साहब! बड़ा हठयोगी है। नहीं उठेगा। अधिक रुपये नहीं लगेंगे, सेकिन्ड का ही टिकट लेकर इस महात्मा को बिदा करें।"

सेठ बोला—"उठो महात्मन्! सेकिन्ड-क्लास का ही टिकट ले देते हैं।"

"सेठ फर्स्ट-क्लास में कभी नहीं चढ़े। जब टिकट लेकर देना ही है तो फर्स्ट-क्लास का लेकर दो।"

साधु को बिना कुछ खाये-पिये चौथा दिन हो गया था। एक दिन और ऊपर से बीत गया। सेठ को डर लगा। कौन हत्या मोल ले। बोला—

"अच्छा! महात्मन्! क्षमा करें। चलें, फर्स्ट-क्लास के टिकट की ही व्यवस्था करता हूँ।"

"नहीं, तुम्हारा कुछ विश्वास नहीं। उठ जाने पर करो या न करो, यहीं मँगवाकर दो।"

सेठ ने फर्स्ट-क्लास का टिकट मँगवाया और साधु को देते हुए कहा—"लीजिए भगवन्।"

साधु ने टिकट लेकर फेंक दिया। बोला—"रख अपना टिकट। इसी को कहता था कि साधु बेचकर खा जाते हैं!"

साधु ने कम्बल उठाया और चल दिया।

—

यह हिन्दुस्तानी एकेडमी (एक+आदमी संस्था) है

आप चाहे इसे लेखक की कठहुज्जती कहें, किन्तु जिस संस्था का नाम तक 'हिन्दुस्तानी' न हो, मैं उसे 'हिन्दुस्तानी' मानने के लिए तैयार नहीं। सभा, समिति, परिषद्, संसद, संघ आदि पचासों शब्दों के रहते हुए भी 'एकेडमी' जैसे अँगरजी शब्द के बिना 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' का काम नहीं ही चल सका।

कारण ? कारण स्पष्ट है। सभा, समिति, परिषद्, संसद, संघ आदि कहते तो 'उर्दूवालों' को आपत्ति होती और 'अंजुमन' 'जमाअत' आदि कुछ कहते तो 'हिन्दीवालों' को आपत्ति होती और 'एकेडमी' पर तो किसी को आपत्ति नहीं—न हिन्दीवालों को और न उर्दूवालों को !

क्या हम पूछ सकते हैं जब 'हिन्दी' और 'उर्दू' का यही रिश्ता है तो दोनों का एक जगह गठ-बन्धन करने की क्या आवश्यकता है ? क्या 'हिन्दी' के लिए 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' और उर्दू के लिए 'अंजुमन तरक्किए उर्दू' जैसी दो संस्थाएँ नहीं हो सकती थीं ?

परन्तु तब हम एकता की ओर न बढ़ पाते। कोई 'एकेडमी' हिन्दी-उर्दू में एकता नहीं करा सकती, न करा सकती थी और न करा सकती है। 'एकेडमी' से यदि यह आशा की जा सकती है कि वह हिन्दी, उर्दू को समीप लाने में सफल होगी तो अँगरेजों से भी यह आशा की जा सकती थी कि वह हिन्दुओं तथा मुसलमानों की एकता कराने में सफल होंगे। ब्रिटिश साम्राज्य-शाही ने हमें एक न होने देने के लिए जो अनेक प्रयत्न किये हैं, वे किसी एक क्षेत्र में सीमित नहीं। हिन्दी-उर्दू के झगड़ों को उभारते रहने और एक साहित्यिक दूसरे साहित्यिक से जो स्वाभाविक एकता अनुभव करता है उसे कभी भी स्थापित न होने देने के साम्राज्यशाही प्रयत्न का ही दूसरा नाम 'हिन्दुस्तानी-एकेडमी' है।

स्वतन्त्र भारत को साम्राज्यशाही के जिन अनेक चिह्नों को मिटाने का काम करना है उनमें एक यू० पी० की 'हिन्दुस्तानी-एकेडमी' अथवा उसका वर्तमान स्वरूप भी है।

पराधीन भारत की अनेक दूसरी संस्थाओं की तरह इसका विधान अँगरेजी में ही है। न हिन्दी में, न उर्दू में। तो भी यह 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' है!

इसका उद्देश्य है उर्दू तथा हिन्दी साहित्य की सुरक्षा तथा वृद्धि का प्रयत्न करना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एकेडमी ने अपने विधान में जिन आठ साधनों का उल्लेख किया है, उनमें एक है एकेडमी की आर्थिक सहायता करनेवाले व्यक्तियों को अपना 'सम्मानित सदस्य' बनाना!

एकेडमी का विधान

किसी संस्था को समझने के लिए उसका विधान बहुत [illegible] है। पहले हम उसी का अध्ययन करें—

'हिन्दुस्तानी एकेडमी' में एक 'कौंसिल' है और [illegible] कमेटी'। कौंसिल को 'हिन्दुस्तानी-एकेडमी' की स्थायी-समिति समझा जा सकता है और 'एक्जीक्यूटिव-कमेटी' को कार्य-समिति।

पहले कौंसिल अथवा हिन्दुस्तानी एकेडमी की स्थायी समिति की ही बात लें।

(१) यू० पी० सरकार जिसे उसका सभापति बनाना चाहे, वही सभापति हो सकता है।

(२) यू० पी० सरकार जिसे उसका मंत्री खजाञ्ची बनना चाहे, वही उसका मंत्री-खजाञ्ची हो सकता है।

(३) यू० पी० सरकार जिन्हें इसके सहायक-मंत्री बनाना चाहे, वे ही (एक हिन्दी के लिए तथा एक उर्दू के लिए) दो सज्जन इसके सहायक-मंत्री हो सकते हैं।

(४) यू० पी० सरकार के शिक्षा-मंत्री इसके सदस्य होते हैं।

(५) यू० पी० सरकार के 'डायरेक्टर आफ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन' इसके सदस्य होते हैं।

(६) यू० पी० सरकार की पाँचों यूनिवर्सिटियों में से प्रत्येक के तीन-तीन प्रतिनिधि इसके सदस्य होते हैं, जिनमें एक वाइस-चान्सलर अवश्य तथा शेष दो हिन्दी और उर्दू वाले एक एक।

(७) सार्वजनिक संस्थाओं के, जिनकी संख्या ७ से कम नहीं, कुल १० प्रतिनिधि हैं। आजमगढ़ की शिबली मंजिल (एकेडमी) और अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के प्रतिनिधि बराबर बराबर दो-दो।

(८) तमाम सार्वजनिक संस्थाओं के इन प्रतिनिधियों के मुकाबले में दस यू० पी० सरकार द्वारा नियुक्त सदस्य।

(९) सहायक सदस्यों (एसोसिएटों) के अधिक से अधिक चार प्रतिनिधि।

(१०) दाताओं के दस प्रतिनिधि।

(११) शामिल किए गए (कोआपटेड) छः सदस्य।

(१२) कार्य-समिति (एक्जीक्यूटिव कमेटी) के सरकार द्वारा नियुक्त किये गये दो सदस्य।

(१३) चुने हुए विद्वान् सदस्य (फैलो) जिनकी संख्या १२ से अधिक नहीं हो सकती।

क्या इस कौंसिल की उक्त रचना-पद्धति को जान लेने और समझ लेने के बाद भी आपके मन में यह विश्वास नहीं हो जाता है कि वर्तमान 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' अनेक दूसरे सरकारी महकमों की ही तरह की एक ऐसी सरकारी संस्था है जिसमें आप और हम कुछ भी तो नहीं कर सकते।

एकेडमी की भाषा

विधान में सभी विधानों की तरह इस बात का उल्लेख है कि कौंसिल की बैठकों का लेखा रखा जायगा। किन्तु, किस भाषा में? न हिन्दी में न उर्दू में। बिना उल्लेख के ही यह मान लिया गया है कि अँगरेजी में। संस्था की सारी कारवाई अँगरेजी में ही होती है। तब भी यह हिन्दुस्तानी एकेडमी है!

कार्य-समिति

हिन्दुस्तानी एकेडमी की कार्य-समिति में कुल बारह सदस्य होंगे। सभापति (सरकारी), दो उप-सभापति (सरकारी भी हो सकते हैं), मंत्री-खजाञ्ची (सरकारी), सहायक मंत्रीगण (सरकारी)। शेष छः सदस्यों में से भी दो सदस्य अवश्यमेव सरकारी ही होने चाहिए।

'कौंसिल' अथवा स्थायी समिति तो प्रायः नीति का ही निर्धारण करती है, जो बहुत ही व्यापक है। नीति को कार्य-रूप में परिणत करना कार्य-समिति का कार्य है। हम कार्य-समिति की विशेषताओं पर नजर डालते हैं तो हमें चार बातें विशेष दिखाई देती हैं—

(१) कौंसिल के सभापति (सरकारी), उप-सभापति (जो चुने जाते हैं और सरकारी-सदस्य भी हो सकते हैं), मंत्री-खजांची (सरकारी), सहायक मंत्री (सरकारी) ही पदेन कार्य-समिति के सभापति आदि हो सकते हैं।

(२) बारह आदमियों की कार्य-समिति में से कुल तीन आदमी (अकेले सभापति और दोनों नियुक्त सहायक मंत्री-गण) मिलकर भी कार्य-समिति का कार्य कर सकते हैं, अर्थात् कोरम कुल तीन का है।

(३) व्यवस्था की सारी जिम्मेदारी कार्य-समिति पर है, किन्तु वह अपने एक प्रस्ताव द्वारा सभापति को सर्वाधिकार सौंप सकती है।

(४) अनुमान पत्र मंत्री-खजाञ्ची द्वारा तैयार किया जायगा और कार्य-समिति के सामने रखा जायगा। कार्य-समिति को उसे अपनी स्थायी समिति के पास नहीं किन्तु सरकार के पास मंजूरी के लिये भेजना होगा। स्थायी समिति को अपने अनुमान-पत्र से कुछ लेना-देना नहीं !

इसके आगे विधान में अनेक ऐसी बारीक बातें हैं, जिनसे इतना ही उद्देश्य सिद्ध होता है कि हिन्दुस्तानी-एकेडमी के एकतन्त्री-विधान पर परदा पड़ा रहे।

इतने वर्षों में यू० पी० सरकार की इस इतनी बड़ी संस्था के द्वारा जो हिन्दी-उर्दू के ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, उनकी कुल संख्या शायद १०० भी नहीं है—अनुवाद, संग्रह और मौलिक ग्रन्थ मिलाकर।

हिन्दी भाषा-भाषी युक्तप्रांत में हिन्दुस्तानी एकेडमी द्वारा प्रकाशित उर्दू ग्रन्थों की संख्या ७० प्रतिशत से अधिक है !

हम आशा करते हैं कि यदि भविष्य में इस हिन्दुस्तानी एकेडमी को साहित्य-सेवा का कार्य करना है तो वह इस योग्य बनेगी कि कुछ कर सके, उसे एकेडमी (एक + आदमी संस्था) नहीं ही रहना होगा। जनता की संस्था बनना होगा और ऐसी संस्था जो हिन्दी-उर्दू को नजदीक लाने के नाम पर दोनों पक्षों के साहित्य और साहित्यकों की चढ़ा-ऊपरी के खेल खेलने से बाज आये।

यह एक ऐसे व्यक्ति द्वारा लिखी गई पंक्तियाँ हैं, जिसे यू० पी० की हिन्दुस्तानी एकेडमी का कुछ विशेष अनुभव नहीं। अनुभवी लोग बहुत कुछ कह सकेंगे।

स्वराज्य—बुरादे का लड्डू

यह हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा कि आज हम अपना स्वातंत्र्य-दिवस मनाते हुए भी उस उल्लास से, उस सरगर्मी से, उस मस्ती से, नहीं ही मना रहे हैं, जिस उल्लास से, जिस सरगर्मी से, जिस मस्ती से हम समझते थे कि हम कभी न कभी अपना स्वराज्य-दिवस अवश्य मनायेंगे।

पंजाब के प्रसिद्ध राष्ट्रीय कवि ला० लालचन्द फलक ने आज से चौथाई शताब्दी पहले न जाने किस दर्द से और न जाने कितनी बड़ी लालसा से गाया था—"कभी वह दिन भी आयेगा कि हम स्वराज्य देखेंगे।"

आज १५ अगस्त है। आज ही वह दिन है—हमारा स्वातन्त्र्य-दिवस।

पाँच वर्ष हुए इसी अगस्त महीने की ९ तारीख को ही बम्बई में इकट्ठे होकर हमने अँगरेजों से कहा था—"भारत छोड़ो।" पाँच वर्ष और एक सप्ताह बाद अँगरेजों ने कहा—"हम जा रहे हैं। लो अपना हिन्दुस्तान सँभालो।"

हम इस स्वराज्य को १९२१ के दिसम्बर की ३१ तारीख को ही आधी रात के समय प्राप्त करने जा रहे थे। सोचता हूँ कि यदि यह कहीं हमें उसी समय प्राप्त हो गया होता तो क्या हम १९२१ में जनवरी की पहली तारीख को यह विश्वास कर पाते कि हमें सचमुच स्वराज्य मिल गया है?

अभी उस दिन बनारस से कुल छः मील के ही फासले पर किसी ने पूछा—पाकिस्तान, पाकिस्तान सुनते हैं, क्या सचमुच पाकिस्तान हो गया है? क्या स्वराज्य का समाचार भी देश के कोने-कोने में इसी रफ्तार से पहुँचेगा?

कांग्रेस के तिरंगे झण्डों को तो देश देखने का अभ्यासी है। चर्खे की जगह चक्र भी उसको कोई बड़ा परिवर्तन नहीं लगेगा। तब देश कैसे समझेगा कि स्वराज्य हो गया है?

दस वर्ष हुए गोरखपुर के एक किसान से गीत सुना था—जब स्वराज्य होगा तो गेहूँ की रोटी होगी, अरहर की दाल होगी और उसमें हम घी डाल डालकर खायेंगे। क्या वह किसान मेरे या आपके कहने से यूँ ही अब मान लेगा कि स्वराज्य हो गया है?

हम चालीस करोड़ लोगों ने अथवा उनमें से अधिकांश के प्रतिनिधियों ने एक साथ कन्धे से कन्धा भिड़ाकर स्वराज्य के लिए युद्ध किया है। क्या आज जब हमें स्वराज्य मिला है हम अपने उन भाइयों को भूल जायेंगे, जिन्हें ब्रिटिश-कूटनीति, और हमारी मूर्खता ने मिलकर हमसे पृथक् पाकिस्तान की चार-दीवारी में ले जाकर खड़ा कर दिया है। हमसे पृथक् होकर ही सही, क्या मजदूर किसान 'पाकिस्तान' में अब १५ अगस्त के बाद से गेहूँ की रोटी, अरहर की जगह उड़द की दाल ही सही, घी डाल-डालकर खा सकेंगे ? यदि नहीं तो उन्हें कौन समझा पाएगा कि स्वराज्य हो गया है !

जिन सामाजिक कुरीतियों के रहने से स्वतंत्र देश भी पराधीन हो जाते हैं, वे सामाजिक कुरीतियाँ ज्यों की त्यों दिखाई देती हैं, तब किसी को भी कैसे विश्वास होगा कि स्वराज्य हो गया है ? बाल विवाह है, जो जातियों के जीवन को खोखला बना दे सकता है। जात-पाँत का मिथ्याभिमान है, जो किसी को कभी भी एक नहीं होने देता है। छुआ छूत का भूत है, जिससे बढ़कर आत्मघाती प्रथा की कल्पना नहीं की जा सकती। इन सबके होते हुए भी कोई कैसे मान लेगा कि स्वराज्य हो गया है ?

हमारे पाँच करोड़ भाइयों को हमसे पृथक कर दिया गया है। क्यों ? इस लिए कि उनमें से कुछ ने कहा कि हम अपने से भिन्न मजहबवालों के साथ एक साथ नहीं रह सकते। अभी भी वे अपने से भिन्न मजहबवालों के साथ ही रहेंगे। भले ही उन्हें यह सन्तोष हो कि अब भिन्न मजहबवालों की संख्या कम है। अधिक संख्यावाले होकर भिन्न मजहबवालों के साथ रहा जा सकता है, कम संख्यावाले होकर नहीं ! अब यदि पाकिस्तान के प्रत्येक जिले के गैर-मुस्लिम यही कहें कि हम पाकिस्तान के जिलों में अल्प-संख्यक होकर नहीं रह सकते, तो क्या अब उन उन जिलों में से प्रत्येक में एक एक 'पवित्र-स्थान' बनाना उचित न होगा ? इस महान् देश-व्यापी विभाजन के बाद भी आखिर बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक एक साथ रह ही रहे हैं और रहेंगे।

भाषा के हिसाब से बँटवारा समझ में आता है, जातियों के हिसाब से बँटवारा समझ में आता है, किन्तु इस बीसवीं सदी में मजहब के आधार पर बँटवारा समझ में नहीं ही आ सकता। क्या अब कोई भी इक़बाल यह कह सकेगा कि 'मजहब नहीं सिखाता, आपस में बैर रखना—हिन्दी हैं हम वतन हैं हिन्दोस्ताँ हमारा।'

इस प्रकार मजहब के आधार पर और केवल मजहब के आधार पर एक पंजाबी को दूसरे पंजाबी से, एक सिन्धी को दूसरे सिन्धी से और एक

बंगाली को दूसरे बंगाली से पृथक् कर दिये जाने के सफल प्रयत्न और उसे न रोक सकने की अपनी असमर्थता के बावजूद भी क्या हम कह सकेंगे कि देश में स्वराज्य हो गया है ?

किसी ने बुरादे के लड्डू बनाये। वह बेचता फिरता था—"बुरादे के लड्डू, पैसे के दो दो। जो न खाये सो पछताये, जो खाये सो पछताये।"

आज हम अपने इस स्वराज्य को लेकर प्रसन्न भी हैं, दुखी भी हैं। हँसते भी हैं, रोते भी हैं, ऐसा लगता है कि बुरादे का लड्डू हाथ लगा है—न खायें तो पछतायें, खायें तो पछतायें।

विधान्-निर्माण परिषद् में, ये राजा कहलानेवाली ब्रिटिश रेजिडेंटों की कल तक की कुछ गुड़ियाँ आने में आना-कानी करती हैं, उन्हें आश्वासन मिल रहा है कि वह पूर्ववत् अपनी अपनी प्रजा की छाती पर मूँग दलती रह सकेंगी।

जमींदारी-प्रथा को हटा देने के लिए प्रस्ताव पास हुए, दो दो प्रान्तीय एसम्बलियों में पास हुए—कहीं एक जगह भी कार्यरूप में परिणत नहीं—न यू० पी० में, न बिहार में।

तब ऐसी हालत में कोई भी किसी को क्या कहकर समझा सकेगा कि स्वराज्य हो गया है ?

लेकिन तब भी कुछ हुआ है अवश्य।

अब इस देश में भविष्य में कोई भी वाइसराय पाँच साल से कम या अधिक साल के लिए इंग्लैण्ड से शासन करने न आ सकेगा।

अब इस देश में हमारा प्यारा तिरंगा झंडा जिसे कल तक किसी सरकारी इमारत पर लहराना अपराध समझा जाता था बड़ी से बड़ी इमारतों पर लहरायेगा।

अब उसके आगे हमारे प्रधान मंत्री जवाहरलाल ही नहीं झुकेंगे, किन्तु लार्ड माउन्ट बेटन भी झुकेंगे।

कल तक के ब्रिटिश नौकरशाही के सबसे बड़े प्रतिनिधि का सिर कुछ दिन तो तिरङ्गे झंडे के आगे झुके। कांग्रेस ने लार्ड माउन्ट बेटन को क्या यही सोचकर तो अभी अपना गवर्नर जनरल स्वीकार नहीं किया ? नहीं तो पटेल या जवाहर की क्या शान होती !

अब अपने गवर्नर कहीं कृपलानी होंगे तो कहीं कोई मलकानी होंगे। अपने राष्ट्र-पति किसी प्रान्त के गवर्नर मात्र बनें—यह कुछ अच्छा सा नहीं लगता। किन्तु राष्ट्र-सेवा के निमित्त वह कौन सा कार्य है, जिसे वे अपने ऊपर न उठा सकें ?

अब अपने स्कूल कालेजों में अँगरेजी माध्यम के द्वारा संस्कृत पढ़ाने जैसी अप्राकृतिक बातें न हो सकेंगी।

अब इस देश की प्रान्तीय भाषाओं तथा राष्ट्रभाषा हिन्दी द्वारा ही मुख्य रूप से ज्ञान का सारा आदान-प्रदान होगा।

और इस प्रकार की अनेक बातें होंगी और हो सकेंगी, किन्तु उनके साथ एक किन्तु लगी हुई है। वे सब अपने आप न होंगी। घर बैठे न होंगी। लोग कहते हैं सत्य जीतता है। यह अर्ध-सत्य है। उसका दूसरा भाग यह है कि सत्य तभी जीतता है जब उसे कोई जिताता है। घर बैठे रहो तो सत्य भी धरा रह जाता है, झूठ बाजी मार ले जाता है। इसलिए सत्य को जिताने की जरुरत है।

हम यह स्वीकार करते हैं कि आज दिन हमें वह स्वराज्य नहीं मिला है जो हमें किसी जन-क्रान्ति के परिणाम-स्वरूप मिलता। बहुत सम्भव था कि उसमें हमारी आज की बहुत सी सामाजिक कुरीतियां और अर्थनीतियाँ पहले ही भस्म हो गई रहतीं। तो भी हम जहाँ तक पहुँच पाये हैं, अब वहाँ से आगे की मंजिल तय करने का संकल्प क्यों न करें?

कुछ भले आदमियों को, जो भले शब्द के अच्छे अर्थों में भले थे। एक बार नरक मे भेज दिया गया। वहाँ उन्होंने देखा कि एक ओर नरक की आग है और दूसरी ओर महान् दलदल। दलदल के पानी को आग पर छिड़का, दलदल सूख गया और आग बुझ गई। जमीन जोतकर खेती की गई और फल-फूल द्वारा नरक स्वर्ग बन गया।

स्वातंत्र्य-प्राप्ति के संग्राम में जो लोग शहीद हुए, वे स्वर्ग गये। हमें चाहिये कि हम अपनी मातृभूमि को ही स्वर्ग बनाने के कार्य में जुट जायँ।

सरकार के करने के बहुत कार्य हैं। जनता के लिये उससे भी अधिक।

पिछले २५ वर्ष से हम प्रत्येक सरकारी कार्य को सन्देह की दृष्टि से देखने और उसका बाईकाट करने के अभ्यासी रहे हैं। आज से सरकार और जनता एक हो रही है। जनता की सरकार! अब सरकार को जनता का पूरा पूरा सहयोग मिलना चाहिये और मिलेगा।

लेकिन हाँ, जिस भारतीय जनता ने विदेशी शासन की जड़ों में मठा डाला है, वह भारतीय जनता वर्तमान शासन-अधिकारियों का भी लिहाज न

करेगी, यदि वह देखेगी कि केवल शासन-कर्ता ही बदले हैं और शासन जड़मूल से नहीं बदला है।

जनता शासन-परिषद् की बारीकियों में नहीं जायेगी, उसका अपना मापदण्ड है—

पेट को पौष्टिक भोजन मिले।

तन ढकने को वस्त्र मिले।

सभी को ऊँची और सस्ती शिक्षा मिले। और योग्य व्यक्तियों को ऊँची से ऊँची महत्त्वाकांक्षा पूरी करने का अवसर मिले।

जनता जानना चाहती है कि वर्तमान सरकार से उसे यह चीजें कब तक किस रूप में मिलनी शुरू होंगी?

यह भी महान् अभिनिष्क्रमण है

उस दिन मैंने जब एक मित्र के साथ बापू के भाषा संबन्धी विचारों की ही नहीं कुछ दूसरे विचारों की भी प्रतिकूल चर्चा की तो उन्होंने पूछा—तब आप बापू का इतना आदर क्यों करते हैं ?

"इसलिये कि सारी दुनिया के विरोध करने पर भी जिस बात को वे स्वयं ठीक समझते हैं, उसके अनुसार अपना आचरण ढालने की उनमें अनन्त सामर्थ्य है।"

२२ २३ नवम्बर के समाचार-पत्र हमारे लिये क्या समाचार लाये हैं ? बापू अपनी सारी मण्डली को पीछे छोड़कर केवल श्री निर्मलकुमार वसु और श्री परसराम—बापू के बङ्गला अनुवादक और शीघ्र-लेखक—को साथ लेकर श्री रामपुर चले गये।...

राम का वनवास और अयोध्या-वासियों का विलाप इस श्रीरामपुर-गमन के सामने छोटी चीज है, मैं कहूँगा मुझे यह घटना राजकुमार सिद्धार्थ के महान् अभिनिष्क्रमण के तुल्य लगती है।

राम दशरथ की हार्दिक इच्छा से नहीं, केकयी द्वारा राम के लिये जबर्दस्ती प्राप्त की गई आज्ञा के फलस्वरूप बन गये थे। राम ने पिता के बचन की रक्षा की। उनके बाद की परम्परा ने राम को 'पितृभक्त राम' और मर्यादा-पुरुषोत्तम राम' कह कर याद किया।

सिद्धार्थ-कुमार का अभिनिष्क्रमण जाति, जरा, मरण से मुक्ति का उपाय ढूँढ़ने के लिये हुआ था—यह सामान्य परम्परा है; किन्तु सुत्त-पिटक में उनके महान् अभिनिष्क्रमण का जो कारण उनके अपने शब्दों में दिया हुआ है वह है 'लोगों को आपस में लड़ते देख कर रोते हुये माता पिता को छोड़ चल दिया।' सिद्धार्थ परस्पर कट मरने वाले लोगों के लिये 'सम्यक्-ज्ञान' की तलाश में निकले थे।

२९ वर्ष की आयु में गृह-त्याग किया। ३५ वर्ष की आयु में ज्ञान प्राप्त किया और ३५ से अस्सी वर्ष की आयु तक—पूरे ४५ वर्ष लोक-कल्याणार्थ उपदेश दिया। वे उपदेश एक 'बुद्ध' के उपदेश हैं।

किन्तु, बापू अपने जीवन पथ पर जिस सत्य और अहिंसा की लाठी के

सहारे चलते रहे, आज उन्हें वही टूटती दिखाई दे रही हैं। यह एक "महान्-आत्मा" के जीवन की कितनी बड़ी "काल रात्री है" है! बापू ने अपने साथियों से विदा लेते समय कहा है—

"मुझे अपने चारों ओर अतिशयोक्ति और असत्य दिखाई देता है। मैं सत्य नहीं देख पा रहा हूँ। चारों ओर भयानक अविश्वास है। पुराने से पुराने मित्र दूर हो गए हैं। सत्य और अहिंसा, जिनकी मैं सौगन्ध खाता हूँ और जिन्होंने जहाँ तक मैं समझता हूँ, पिछले ६० वर्ष मुझे जीवित रखा है, अब अपूर्ण प्रतीत हो रहे हैं, अब उनमें वे गुण नहीं दिखाई दे रहे हैं, जिनका मैं उन पर आरोप करता रहा हूँ।"

बापू का कार्यक्रम क्या रहेगा? बापू, जिनका आतिथ्य संसार के किस देश के लोग अपना सौभाग्य नहीं समझेंगे—किसी "मुस्लिम-लीगी" के यहाँ ठहरना पसन्द करने की बात कह रहे हैं। यह पंक्तियाँ लिखी जाते समय तक यह बात पढ़ने को नहीं मिली कि किसी "मुस्लिम-लीगी" ने बापू का 'मेजवान' बनने की घोषणा की हो। अब बापू एक गाँव से दूसरे गाँव अविश्वासी दिलों में विश्वास की ज्योति जगाते हुये और नौआखली के हिन्दू-मुसलमानों के दिलों में दबी हुई मुहब्बत की उस आग को कुरेदते हुये, जिसे साम्प्रदायिकता की राखने ढक दिया है, घूमेंगे। न जाने कब तक बापू का यह कार्यक्रम जारी रहेगा।

"ऐसा हमने सुना है। भगवान् बुद्ध श्रावस्ती में अनाथ-पिण्डिक के जेत वनाराम में विहार करते थे।

उस समय राजा प्रसेनजित् के राज्य में भयानक, मारकाट-प्रिय, दया-रहित अङ्गुलिमाल डाकू था, ऐसा जिसके हाथ सदैव रक्त से रङ्गे रहते थे। उसने ग्रामों को, जन-पदों को तथा बड़े बड़े नगरों को उजाड़ डाला था।

तब भगवान पूर्वान्ह समय चीवर पहन, पात्र ले, श्रावस्ती में भिक्षाटन के लिये निकले। भोजनानन्तर जिधर अङ्गुलिमाल डाकू रहता था उधर चले। ग्वालों, किसानों तथा अन्य राहगीरों ने भगवान् को जिधर डाकू अङ्गुलिमाल था, उसी रास्ते जाते देखा। वे घबराकर बोले—

"इस रास्ते मत जाओ श्रमण! इस रास्ते मत जाओ। इधर अङ्गुलिमाल डाकू रहता है। उसने गाँव के गाँव उजाड़ दिये हैं। वह मनुष्यों को मार मारकर अंगुलियों की माला बनाता है। श्रमण! इस रास्ते से बीस, तीस, चालीस, पचास पुरुष तक इकट्ठे होकर जाते हैं, वे भी अंगुलिमाल के हाथों नहीं बच पाते।"

भगवान् मौन धारण किए चलते रहे।

दूसरी बार भी, तीसरी बार भी ग्वालों, किसानों तथा अन्य राहगीरों ने भगवान् को जिधर डाकू अंगुलिमाल था उधर जाने से मना किया।

भगवान् मौन धारण किए चलते रहे।

डाकू अंगुलिमाल ने भगवान् को आते देखा। वह सोचने लगा—"आश्चर्य है। अद्भुत है। इस रास्ते दस, बीस, तीस, चालीस, पचास पुरुष तक इकट्ठे होकर आते हैं, वे भी मुझसे बच नहीं पाते। और यह श्रमण, जैसे मेरा तिरस्कार करता हुआ, अकेला चला आ रहा है। मैं इस श्रमण को क्यों न मार डालूँ?"

डाकू अंगुलिमाल ढाल-तलवार लेकर भगवान् के पीछे पीछे चला। बोला--

"श्रमण, खड़ा रह"

"मैं खड़ा हूँ, अंगुलिमाल! तू भी रुका रह।"

"तू चला जा रहा है और कहता है मैं रुका हूँ।"

"मैं रुका हूँ और मुझे कहता है 'रुका रह'।"

"श्रमण! मैं जानना चाहता हूँ कि तू कैसे रुका है और मै कैसे रुका नहीं हूँ?"

"अंगुलिमाल! मैं सारे प्राणियों के प्रति दया-युक्त और दण्ड-रहित हूँ, इस लिये रुका हूँ और तू सारे प्राणियों के प्रति दण्ड-युक्त और दया-रहित है, इसलिये तू 'रुका हुआ' नहीं है।"

डाकू अंगुलिमाल का व्यक्तित्व बदल गया। उसने ढाल-तलवार फेंक करुणामय भगवान् बुद्ध की वन्दना की।

उस दिन तथागत ने एक डाकू—अंगुलिमाल—का दमन किया था। आज गांधीजी उस अंगुलिमाल डाकू से भी खतरनाक डाकू—मजहबी दीवानों—के बीच घूम रहे हैं। हम नहीं जानते कि नोआखाली में अब उनकी संख्या कितनी है?

हाँ, तथागत जिस मैत्री भावना की मूर्ति थे, बापू उसी मैत्री-भावना की, उसी अहिंसा की अथवा उसके प्रति अपनी भक्ति की परीक्षा करने के लिये निकले हैं। यह अन्तर हमें कुछ सोचने पर मजबूर करता है।

लंका में हिन्दी प्रचार

आधुनिक लंका के साथ अपना जो राजनीतिक सम्बन्ध है उसकी गर्मी में हम अपने प्राचीन काल से चले आए धार्मिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध को भूले तो नहीं जा रहे हैं ?

भौगोलिक दृष्टि से लंका भारत का ही टुकड़ा है। असम्भव नहीं प्रागैतिहासिक काल में यह भारत से अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध रहा हो। अब भी क्या है, एक बत्तीस तेत्तीस मील का तुच्छ समुद्र जिसे मामूली जहाज से दो घंटे में पार किया जा सकता है, लंका को भारत से पृथक् करता है।

लंका की आबादी ? हमारे पौराणिकों की धारणा के अनुसार भले ही 'लंका निश्चिर-निकर निवासा, तहाँ कहाँ सज्जनकर वासा' हो, किन्तु सिंहल के अपने इतिहास के अनुसार आज के सारे सिंहली प्राचीन भारत-प्रवासी भारतीय ही हैं और भारतीयों से कम सज्जन नहीं। कोई गुजरात से तो कोई बंगाल से। दक्षिण भारत का दक्षिण-प्रदेश तो उनका पड़ौस ही है। इसलिये उत्तर सिंहल अर्थात् जाफना में तामिल भाषा-भाषियों की भी खासी संख्या है। शेष भाषाओं में नाना देशों के नाना निवासी शामिल हैं।

लंकावासियों का धर्म ? यूँ तो उनका विश्वास है कि स्वयं भगवान् बुद्ध तीन बार लङ्का पधारे थे, किन्तु आधुनिक इतिहासज्ञ लङ्का में बौद्ध-धर्म के प्रचार की कथा अशोक-पुत्र महेन्द्र और अशोक-पुत्री संघमित्रा से आरम्भ करते हैं। अशोक-पुत्री स्थविरी संघ-मित्रा द्वारा यहाँ से ले जाकर लगाई गई बोधिवृक्ष की शाखा संसार के सबसे पुराने ऐतिहासिक वृक्ष के रूप में आज भी विद्यमान् है। वह बोधि-वृक्ष लङ्का में बौद्ध धर्म के प्रचार का प्रतीक है। आज लङ्का के अधिकांश लोग तथागत के धर्म के ही अनुयायी हैं। जो अबौद्ध हैं वे या तो इसाई हैं या मुसलमान हैं या जाफना के हिन्दू शैव।

लङ्कावासियों की भाषा ? उत्तर भारत के कई लोग लङ्का को दक्षिण भारत के भी दक्षिण में होने के कारण वहाँ की भाषा को भी द्रविड़-परिवार

की कोई एक भाषा समझे बैठे हैं। सिंहल भाषा एक आर्य भाषा है, जिसमें तामिल और यूरोपीय भाषाओं के शब्द इसी प्रकार शामिल हैं जैसे हिन्दी में अरबी फारसी के। उसकी लिपि अपनी है—दक्षिण भारत की लिपियों से मिलती-जुलती।

पिछले बीस वर्षों में लंका के बहुत से विद्यार्थी और विहारों में रहनेवाले धर्म-प्रेमी भिक्षु हिन्दी की ओर आकर्षित होते रहे हैं। जो विद्यार्थी स्कूल कालेजों में ग्रीक-लेटिन तथा फ्रेंच आदि भाषायें पढ़ते है वे अपने पड़ोस की राष्ट्रभाषा हिन्दी के ज्ञान से अपने को अधिक दिन वंचित नहीं रख सकते। यदि रखेंगे तो घाटे में रहेंगे। और जहाँ तक भिक्षुओं की बात है वह तो सांस्कृतिक कारणों से ही हिन्दी सीखना चाहते हैं—कोई-कोई भारत में आकर बौद्ध-धर्म-प्रचार कर सकने के प्रेम से भी।

मैंने सिंहल-निवास के एक सप्ताह के भीतर ही अनुभव कर लिया कि सिंहल में हिन्दी ज्ञान-प्राप्ति की इतनी इच्छा है कि इसके आगे उसके सीखने-सिखाने की व्यवस्था ही करने की जरूरत है। हिन्दी-माहात्म्य बताने की आवश्यकता ही नहीं।

अपनी समिति के श्री. सुशीलकुमार 'साहित्य रत्न' मेरे साथ सिंहल गए थे। उन्हें मैं विद्यालंकार कालेज में 'हिन्दी' पढ़ाने के लिए वहीं छोड़ आया। उनका पत्र आया है कि उनके पास इतने थोड़े ही दिनों में ९० शिक्षार्थी हिन्दी सीख रहे हैं। इतनी अधिक जगहों से बुलावा आ रहा है कि वह हर जगह जा ही नहीं सकते। आशा है शीघ्र ही कोई न कोई साहसी हिन्दी-प्रचारक सुशील-कुमार का अनुकरण करेंगे। भारत की अनेक शिक्षण संस्थाओं में शिक्षार्थी आते रहे हैं। राष्ट्रीय संस्थाओं में काशी का विद्यापीठ और बोलपुर का शान्ति निकेतन मुख्य है। लंका के प्रसिद्ध विद्यालंकार कालेज के तीन आचार्य-गण स्थविरत्रय ना. के धम्मरत्न, को. पञ्ञाकित्ति, ब. सीवली—किसी समय काशी विद्यापीठ में अध्ययन करते थे। यूँ तो सभी को किन्तु विशेष रूप से उत्तर-भारत में रहनेवाले सभी सिंहलवासियों को आधुनिक सिंहल के लिए हिन्दी ज्ञान की आवश्यकता और अनिवार्यता समझ में आई है जिसका परिणाम यह हुआ कि समय-समय पर अनेक सिंहलवासियों ने हिन्दी पठन-पाठन आरम्भ किया। सिंहल के एक समाचार-पत्र में कुछ दिन तक वह क्रमशः "हिन्दी पाठ" छपते रहे।

पिछले दो तीन वर्षों से हिन्दी ज्ञान की यह पिपासा विशेष बलवती हो उठी है। वैद्यक पढ़नेवालों को वैद्यक पढ़ने के लिये हिन्दी उपयोगी

मालूम देती है, संगीत सीखने वालों को संगीत सीखने के लिये और सिनेमा-प्रेमियों को फिल्म देखने और समझने के लिये। लंका के अंग्रेजी पत्रों में भी हिन्दी शकुन्तला फिल्म का विज्ञापन देख मुझे थोड़ा आश्चर्य हुआ।

सिंहल विश्व-विद्यालय में आचार्य्य रत्नसूर्य और आचार्य्य मलल शेखर सदृश अनेक हिन्दी प्रेमी विद्वान् हैं, जो चाहते हैं कि सिंहल विश्व-विद्यालय में हिन्दी को उसका उचित स्थान मिले। स्थविर सीवलीजी—जो इस समय विश्व-विद्यालय में ही कुछ विद्यार्थियों को हिन्दी पढ़ाते हैं—सिंहल में हिन्दी प्रचार के लिये हर तरह से विशेष प्रयत्न-शील हैं।

हममें से बहुत ही कम लोगों को यह मालूम होगा कि कविवर मैथिलीशरणजी गुप्त की प्रसिद्ध कृति "यशोधरा" का अनुवाद सिंहल भाषा में प्राप्य है। इस सुन्दर अनुवाद का श्रेय भाई सीवलीजी को ही है। सारे हिन्दी-संसार की ओर से उन्हें बधाई।

अभी जो मैं सिंहल गया, तो मेरी यात्रा में मुख्य कारण सीवलीजी ही हुए। उन्होंने ही आग्रह किया था कि हिन्दी-प्रचार के हित में इस समय सिंहल यात्रा उपयोगी होगी।

मुझे यह लिखते प्रसन्नता होती है कि हिन्दी प्रचार के लिये मैंने लंका में रहते जो एक विशेष प्रयत्न किया था, उसमें मुझे सफलता मिली है। सिंहल में 'प्राच्य-भाषोपकार समितिय' नाम की एक सरकारी संस्था है जिसका उद्देश्य संस्कृत, पालि सिंहल आदि भाषाओं में ऊँची परिक्षायें लेकर सिंहल वासियों को डिग्री देना है। इस संस्था की सबसे ऊँची परीक्षा का नाम है 'पण्डित' परीक्षा। मैंने इस संस्था के मन्त्री से और व्यक्तिगत रूप से इसकी कार्य-समीति के कुछ सदस्यों से मिलकर एक प्रार्थना पत्र द्वारा सुझाव रखा था कि वह हिन्दी भाषा को भी अपने परीक्षा-क्रम में स्थान दें। कोलम्बुसे १३—६ का लेखा हुआ पत्र मिला है जो इस प्रकार है—

अध्यापन कार्य्यालय
१३-६-४६

गौरवयेन् निवेदनय करमि,

स्वामिन् वहंस,

हिन्दी भाषाय पिलिबन्दव तमुन्नानसे एवू योजनाव अद पैवैत्यू प्राचीन भाषोपकार समाज कारक सभा रैसवीमेदी इदिरिपत् करन लदिन् १६४८ वर्ष ये सिट हिन्दी भाषावत समागमे विभाग वलट ऐतुलत करनलेस निश्चय करगन्ना

लदी। ए सन्दहा निर्देश पत्रय पिलियेल कर एवन लेस इल्ला बम्बरैन्देसिरि सीवली स्थविरयं वहंसेट मा विसिन् लियुमक् अद यवन लदी।

मीट

प्रा. भा. स. नेकम्।

पत्र का भावार्थ स्पष्ट है। हमने यह पत्र मूल भाषा में हिन्दी और सिंहल का सामीप्य अथवा दूरी देख सकने के लिये ही दिया है। १९४७ तक का पाठ्य-क्रम तो प्रकाशित हो चुका है। १९४८ के पठ्य-क्रम में हिन्दी रहेगी।

हम हमने गौरवार्ह महास्थविर पञ्ञासार नायकपादयवहंसे तथा आदरणीय परवहर वज्रभान स्थविरयंवहंसे आदि सभी के कृतज्ञ हैं जिन्होंने इस प्रश्न में विशेष रस लिया।

कुछ हिन्दी-प्रेमियों को सिंहल भाषा का ज्ञान प्राप्त कर लङ्का को अपना कार्य-क्षेत्र बनाने की आवश्यकता है, लङ्का को कुछ देने के लिये ही नहीं, लङ्का से बहुत कुछ लेने के लिये भी।

हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की समस्या

आज दो सितम्बर है। १९४७ है। भारत के इतिहास में एक असाधारण दिन। असाधारण जैसा असाधारण नहीं, बहुत ही असाधारण। आज के दिन हमारी राष्ट्रीय महासभा ने सब कुछ सोच-समझकर, सब आगा-पीछा देखकर ब्रिटिश-सिंह के मुँह में हाथ डाला है। आशा तो है और हमें करनी ही चाहिये कि हमारे जवाहर के हाथ ब्रिटिश-नाहर के दाँत तोड़ने में सफल हो जायँगे, फिर भी अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

हमें एक ओर जहाँ ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की चालबाजियों और दगा-फरेबों से लोहा लेना है, वहाँ उससे भी बड़ा काम है अपने घर की सुध-बुध लेना।

गरीबी सहना आसान है अमीरी सहना कठिन। सैकड़ों वर्ष की गुलामी के बाद जब हमें स्वतन्त्रता की हवा अभी जहाँ-तहाँ छू ही पाई है हमें जागरूक रहना चाहिये कि हम स्वतन्त्रता और उच्छृङ्खलता के भेद को न भूल जायें। हम स्वतन्त्रता की ओर बढ़े किन्तु हमारा आत्म-संयम हमें उच्छृङ्खल होने से बचाये।

हमें इस मध्यकालीन-सरकार के निर्माण के दिन खुशी के मारे उछलने कूदने की कोई जरूरत नहीं, लेकिन तब भी यह समाचार कितना बुरा है कि मुस्लिम—लीग के मन्त्री श्री. लियाकत अली खां ने मुसलमानों से अपील की है कि वह काले झन्डे दिखाकर २ सितम्बर को अपना विरोध प्रदर्शित करें।

यथार्थवाद के नाम पर हम न जाने पिछले कितने वर्षों से भारतीय राष्ट्रीयता की जड़ों को सींचने की ओर से उदासीन रहकर पत्ते ही सींचते रहे हैं, अब तो हम भारतीय राष्ट्रीयता की जड़ों में भी पानी डालना सीखें।

हमारे शासकों ने हमें जो इतिहास पढ़ाया—उसमें हर जगह हिन्दू मुसलमान की लड़ाई की बात। हमारे देश में जितनी संस्थायें खड़ी हैं, उनमें हर जगह हिन्दू-मुसलमान के झगड़े। यह सब कुछ हमारे शासकों के हित में है। लेकिन गजब यह है और रोना इस बात का है कि हमारा सारा चिन्तन

आज हिन्दू-मुसलमानमय बन गया है। अपने शासकों की अपेक्षा इस की अधिक जिम्मेवारी हमारे अपने ऊपर ही है।

इधर कलकत्ते की दुर्घटना से बुरी तरह आहत होकर अपने देश की हिन्दू-मुस्लिम समस्या पर हम जितना ही सोचते हैं तो अन्दर से एक ही आवाज आती है कि यह हिन्दू मुसलमानों को लड़ाने वाले और "हिन्दू" "मुसलमानों" की एकता करानेवाले दोनों ही समान रूप से सारी बुराई की जड़ हैं। दोनों ही हमें हिन्दू मुस्लिम चिन्तामय बनाते हैं। दोनों से हमें हैजे और प्लेग के कीड़ों की तरह बचना चाहिये।

हमें इस देश के भाग्य में दो में से एक चीज अवश्यम्भावी दिखाई देती है—या तो यह "हिन्दुस्तान" और "पाकिस्तान" में बँटकर रहेगा या यह 'हिन्दू' 'मुसलमान' चिन्तन ही एक दम मिटकर रहेगा।

हम में से लगभग सभी लोग जाने अनजाने पहली दिशा की ओर ही लुढ़कते चले जा रहे हैं। सौभाग्य यह है कि समाज का स्वाभाविक विकास हमें दूसरी ओर ले जा रहा है। तो भी हमें जान बूझकर प्रयत्न पूर्वक दूसरी ही ओर बढ़ने की आवश्यकता है। इसी में इस देश का शाश्वत कल्याण है।

सब से पहला काम हमें यही करना चाहिये कि जैसे हम "हिन्दू" "मुसलमानों" को लड़ाने वालों से दूर दूर रहना चाहते हैं, उसी प्रकार हमें "हिन्दू" "मुसलमानों" की "एकता" का प्रचार करनेवाले इन महात्माओं से भी बचना चाहिये। दोनों ही एक ही अपराध के अपराधी हैं। पहले यदि दुष्ट हैं तो दूसरे अल्पज्ञ। क्या देश में कुछ आदमी भी ऐसे नहीं हैं कि जो अपने जीवन में हिन्दू मुसलमान की भाषा में सोचने से एकदम इन्कार कर दें। यदि हैं तो ऐसे ही थोड़े से लोग भावी हिन्द के निर्माता हो सकते हैं।

हमारी राष्ट्रीय महासभा और मुस्लिम लीग में जो इस समय झगड़े का बड़ा कारण है, वह यही है न कि राष्ट्रीय महासभा कहती है कि क्यों कि हम "राष्ट्रीय" हैं इस लिये हम हिन्दू और मुसलमान दोनोंका प्रतिनिधित्व करेंगे और मुस्लिम-लीग कहती है कि मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करने का एकाधिकार केवल मुस्लिम-लीग का ही होना चाहिये। कांग्रेस ५ हिन्दू + १ मुसलमान रखना चाहती है और मुस्लिम लीग को ५ मुसलमान देने को तैयार है। साम्प्रदायिक दृष्टि से परिणाम क्या होता है? ५ हिन्दू और छः मुसलमान हो जाते हैं। अछूतों के भी एक प्रतिनिधि को हिन्दुओं में गिन लें तो छः हिन्दू हो गये। अब हिन्दू सभाइयों की दृष्टि से यदि पूछें तो क्या हिन्दुस्तान में हिन्दू मुसलमानोंकी जन संख्या बराबर है? यदि नहीं तो यह कहाँ का बँटवारा

है कि वायसराय की नई सरकार में हिन्दुओं और मुसलमानों की संख्या बराबर हो। लेकिन यदि हम राष्ट्रीय दृष्टि से देखें तो भी यह कहाँ की राष्ट्रीयता है कि हम किसी भी आदमी को उसके 'हिन्दू' या 'मुसलमान' होने के कारण कांग्रेस की ओर से सरकार में लेने का आग्रह करें।

हमें दुःख के साथ इस सत्य को स्वीकार करना पड़ता है कि सच्ची "राष्ट्रीयता" इस देश में है ही नहीं। कहीं है तो चिराग लेकर ढूँढ़ने पर भी आसानी से नहीं मिलती।

हमारे जीवन का कौन सा पहलू है जिसमें हमारे बड़े से बड़े आदमी आज हिन्दू मुसलमान की भाषा में सोचने पर मजबूर नहीं होते। यदि आप इन्कार करते हैं तो आप स्वप्न लोक में विचरने वाले समझे जाते हैं, और वे अपने को समझते हैं यथार्थ-वादी !!!

हमें इस कीमत पर भी 'हिन्दू' 'मुसलमान' की शब्दावली में सोचने से इन्कार करना होगा, बार बार इन्कार करना होगा, जान बूझकर इन्कार होगा—अपने स्वभाव बदल जाने तक इन्कार करते रहना होगा।

लोग 'हिन्दू' मुसलमानों' में अन्याय करने वाले की अपेक्षा 'हिन्दू' 'मुसलमान' में 'न्याय' करने वाले को अच्छा समझते हैं। हमें दोनों को ही बुरा समझना सीखना होगा। भावी भारत उसी मानव को मानव समझेगा जो अपनी छाती पर हाथ रख कर कह सकेगा कि वह अपने जीवन के किसी पहलू में भी 'हिन्दू-मुस्लिम' का ख्याल नहीं करता है।

उदाहरण जीवन के किसी भी पहलू से ही लिये जा सकते हैं। मैं आज के इस हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी आन्दोलन की ही बात क्यों न कह दूँ ? पंजाब में पिछले वर्षों के हिंदी प्रचार के बावजूद भी उर्दू-ज्ञाताओं की ही संख्या अधिक है और वह भी हिन्दुओं में। और इधर वर्धा में मुस्लिम लीग के नोटिस बोर्ड पर भी नागरी ही लिखी दिखाई देती है। तब भी तो साम्प्रदायिक स्वार्थियों ने एक ओर हिन्दी हिन्दुओं की और उर्दू मुसलमानों की, का प्रचार किया ही है लेकिन उससे भी बढ़ कर भाषा की एकता के नये पैगम्बरों, ने 'हिंदी' 'उर्दू' को मिला कर 'हिन्दुस्तानी' बनाने वालों ने 'हिन्दी' हिन्दुओं की और 'उर्दू' मुसलमानों की, का प्रचार करना आरम्भ किया है। ये दोनों ही सम्प्रदायवादी हैं—एक अपने को स्वीकार करते हैं, एक स्वीकार नहीं करते।

यदि हमको कोई बीमारी हो तो हम बिना यह चिन्ता किये कि औषध देने वाले का मजहब क्या है उसकी बताई हुई या दी हुई औषध ले लेते हैं। यही बात हमें जीवन के हर पहलू में करनी चाहिये, करके देखनी चाहिये।

अनाथालयों के लिये हिन्दू लड़कों और यतीम-खानों के लिये जब मुसलमान लड़कों को रेल में चन्दा माँगते देखता हूँ तो सोचता हूँ कि हम किस मुँह से अपने एक राष्ट्रीय जीवन की बात करते हैं जब एक मुहल्ले के, एक नगर के दो अनाथ बच्चे भी एक अनाथालय या यतीम-खाने में परवरिश नहीं पा सकते।

कोई अविश्वासी अश्रद्धालु पूछता है, आप ऐसी संस्थाओं को 'यतीम-खाने' कहेंगे या 'अनाथालय'? मेरा उत्तर है पंजाब में आर्य समाज तक के 'यतीम–खाने' हैं और महाराष्ट्र में 'अनाथ विद्यार्थी-गृहों' की कमी न होनी चाहिये।

हम अपनी भाषा को अपने मजहब से एकदम पृथक् रखेंगे।

—:※:—

राष्ट्रभाषा और देश का अंग-विच्छेद

यह जो हमारे पश्चिम और हमारे पूर्व में, देश के दोनों सिरों को कलम कर दिया गया है, हम उसके लिये 'विभाजन' जैसे नरम शब्द का प्रयोग कर 'आत्म-वञ्चना' नहीं करना चाहते। वह देश का वैसा ही अंग विच्छेद है जैसा आज से ४२ वर्ष पहले 'बंगभंग' हुआ था। उस समय की 'राष्ट्रीयता' आज की इस सठियाई हुई 'राष्ट्रीयता' से अच्छी थी। वह बंग-भंग को सहन न कर सकी थी। हमने आज बंग भंग ही नहीं पंजाब-भंग को भी न केवल सहन किया, बल्कि उसे स्वीकार किया है। ब्रिटिश कूटनीति ने हमें संसार के सामने देश के अंग-विच्छेद की माँग करने वालों के रूप में खड़ा किया।

लोग कहते हैं, अन्त में आत्म बल की ही विजय होती है। होती होगी! आज तो कूटनीति की ही विजय हुई है।

आत्म-विश्लेषण

प्रश्न उठता है क्यों हुई ? दूसरों को दोष देना अपनी मूर्खता तथा अपने अपराध को छिपाने का सर्वोत्तम साधन है। उससे कोई लाभ नहीं। बापू ने अभी दो ही दिन हुए अपनी प्रार्थना में कहा कि यह प्रसन्न होने की घड़ी नहीं है यह आत्म-विश्लेषण की और आत्म-निरीक्षण की घड़ी है।

हमें लगता है कि आज हमें यह सत्य स्वीकार करना ही चाहिये कि पिछले पचीस तीस वर्ष से हम जिस साम्प्रदायिकता रूपी बबूल को जाने-अनजाने सींचते रहे हैं उसमें 'सम्पूर्ण देश की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता' रूपी आम्र-फल कभी लग ही नहीं सकता था।

जिस दिन हमने साम्प्रदायिक चुनाव स्वीकार किया—वह देश के दुर्भाग्य का दिन था।

जिस दिन हमने सम्प्रदाय विशेष को साथ लेने के लिये खिलाफत आन्दोलन जैसे आन्दोलन को एक राष्ट्रीय आंदोलन के रूप में स्वीकार किया, वह देश के परम दुर्भाग्य का दिन था।

जिस दिन से हम गुलामों की राजनीति और राष्ट्रनीति में यह 'हिन्दू

मुस्लिम एकता' का वहम आ घुसा, उसी दिन विधाता ने इस देश के भाग्य को दुर्भाग्य में परिणत कर दिया।

हम समझते रहे कि हम 'हिन्दुओं' और 'मुसलमानों' को मिलाने के आन्दोलन कर रहे हैं, किन्तु वे सब 'हिन्दू-चेतना' तथा 'मुस्लिम-चेतना' को पृथक् पृथक् बढ़ाने के आंदोलन सिद्ध हुए। हिन्दू चेतना तो नहीं ही बढ़ सकी। दो कारण थे। एक तो पहले हिंदुओं की जाति पाँति प्रधान सामाजिक रचना के रहते हिन्दू चेतना बढ़ ही नहीं सकती थी। दूसरे इस 'हिन्दू मुस्लिम एकता' की चिन्ता भी मुख्यतः हिन्दू नेताओं को ही रही। परिणाम यही हुआ कि मुस्लिम चेतना बढ़ी और ऐसी बढ़ी कि मर्ज बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की।

कांग्रेस की साम्प्रदायिकता

हिन्दू सभा साम्प्रदायिक संस्था है, किन्तु उसके इतिहास ने उसे अकर्मण्य सिद्ध किया। उसकी राजनीति सरकारी नौकरियों की छीन-झपट से आगे न बढ़ सकी। कांग्रेस ने समझा और देश ने माना कि कांग्रेस 'असाम्प्रदायिक' है। रही भी। तो भी इसके सभी कार्य-क्रमों को जहाँ-जहाँ और जिस-जिस मात्रा में यह 'हिन्दू-मुस्लिम एकता' का वहम प्रभावित करता रहा, उतने अंशों में वह भी साम्प्रदायिक ही सिद्ध हुई।

व्यक्ति विशेष को उसके सम्प्रदाय की ओर देख कर अपने घर में न आने देना साम्प्रदायिकता है, किन्तु व्यक्ति-विशेष को उसके सम्प्रदाय की ओर देख कर अपने घर में आने देना भी साम्प्रदायिकता ही है। हिन्दू सभा की साम्प्रदायिकता पहले ढंग की थी, अधिकांश में अकर्मण्य। कांग्रेस की साम्प्रदायिकता दूसरे ढंग की रही, किन्तु क्रियाशील। जितनी अधिक मात्रा में वह क्रियाशील रही, उतनी ही अधिक मात्रा में वह देश का अहित साधन कर सकी।

काश! इस देश का पिछले ३० वर्ष का राष्ट्रीय आन्दोलन उसमें सम्मिलित होने और न होने वालों के मजहबों की ओर से सर्वथा उदासीन रह सकता!

हिन्दुस्तानी प्रचार सभा की पृष्ठभूमि

आज से पाँच वर्ष पहले देश में बापू की प्रेरणा से जो 'हिन्दुस्तानी-प्रचार सभा' की स्थापना हुई, वह हमारी विनम्र सम्मति में इसी दूसरी तरह की साम्प्रदायिक मनो-वृत्ति का परिणाम थी। किसी बोतल पर गलत लेबल लगा होने से उसके अन्दर की दवाई में अन्तर नहीं पड़ जाता। 'राष्ट्रीयता' का लेबल आखिर कितने दिन तक किसी चीज की रक्षा करेगा!

'स्वराज्य' के लिये 'हिन्दू-मुस्लिम एकता' अनिवार्य है और 'हिन्दू-मुस्लिम एकता' के लिये 'हिन्दी-उर्दू एकता' अनिवार्य है, यही तो रही इस 'हिन्दुस्तानी-प्रचार सभा' की दार्शनिक पृष्ठभूमि !

यहाँ राष्ट्र-भाषा का प्रश्न राष्ट्र-भाषा का प्रश्न नहीं रहा। यहाँ राष्ट्र-साहित्य का प्रश्न राष्ट्र-साहित्य का प्रश्न नहीं रहा। यहाँ सभी कुछ 'हिन्दू-मुस्लिम एकता' की बलिवेदी पर निछावर कर दिया गया, और एकता भी ऐसी जो प्रतिवर्ष किये और तोड़े जाने वाले हिंदू-मुस्लिम पैक्टों की शृंखला का ही एक दूसरा नाम।

पत्रों में समाचार छपा था कि दिल्ली की 'भंगी बस्ती' में डा० राजेन्द्र बाबू और श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल बापू से हिन्दुस्तानी प्रचार के बारे में बातचीत कर रहे है। सोचा था, यह स्वाभाविक है। देश में इतनी बड़ी उथल-पुथल किस विचारवान् को, किस हृदयवान् को कुछ सोचने समझने पर मजबूर न करेगी !

कुछ दिन के बाद श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल का एक वक्तव्य पढ़ने को मिला, जिसका शीर्षक अधिकांश हिन्दी पत्रों में "देश की राष्ट्रभाषा हिन्दी होगी" था। आँखों पर विश्वास नहीं हुआ। ध्यान से पढ़ा। उस वक्तव्य में श्रीमन्नारायण अग्रवाल ने हिन्दुस्तानी के बारे में अपना सन्देह व्यक्त किया था और कहा था कि "यदि पाकिस्तान की भाषा 'उर्दू' हो गई (उन्हें इसमें सन्देह है !) तो फिर भारत में हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के आन्दोलन को रोकना कठिन हो जायगा।"

हमने श्रीमन्नारायण अग्रवाल के इस सन्देह का स्वागत किया, क्योंकि सन्देह से ही ज्ञान पैदा होता आया है। पहले सन्देह पीछे ज्ञान।

किन्तु इसके बाद उनका एक दूसरा वक्तव्य भी पढ़ने को मिला है, जिसमें उन्होंने हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के मंत्री की हैसियत से इस बात की घोषणा की है कि सभा की रीति-नीति वही रहेगी जो आज तक रही है।

ऐसा लगता है कि पहला वक्तव्य श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल के अपने व्यक्तिगत विचारों की ओर निर्देश करता है और उनका दूसरा वक्तव्य हिन्दुस्तानी प्रचारसभा के मंत्री की हैसियत से किया गया कर्तव्य-पालन है।

हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा के अध्यक्ष मान्य राजेन्द्र बाबू हैं। उनके कभी इस बारे में एक वक्तव्य भी न देने से ही 'हिन्दुस्तानी' के बारे में उनका उत्साह स्पष्ट हो जाता है। हाँ, बापू के व्यक्तित्व के आगे राजेन्द्र बाबू के समान 'यथानियुक्तोस्मि तथा करोमि' का इतना शानदार उदाहरण दूसरा है ही नहीं।

बापू का प्रार्थना-प्रवचन

सच्ची बात है, बापू ही हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा हैं। वे हिन्दी साहित्य सम्मेलन में नहीं रहे—इसका सम्मेलन को हार्दिक दुःख हुआ; उनके मार्ग-दर्शन से वह वंचित हो गया, यह उसकी हानि हुई; लेकिन तो भी सम्मेलन जैसे-तैसे जीवित है। और हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा से यदि आज बापू अपना नाम हटा लें तो कल हिन्दुस्तानी प्रचार-सभा के दफ्तर में ताला पड़ जा सकता है।

इसलिए इधर बापू का राष्ट्र-भाषा के प्रश्न पर जो प्रार्थना-प्रवचन हुआ है वही सब कुछ है और है बहुत ही महत्वपूर्ण।

इस प्रार्थना-प्रवचन को हमने कई बार पढ़ा। उसमें भावना की ऐसी और इतनी अधिक पुट है कि जो किसी के भी चिन्तन के लिए घातक है। बापू के प्रार्थना-प्रवचन के तीन हिस्से हैं। पहले हिस्से में उन्होंने स्वीकार किया है कि हिन्दुस्तानी को लेकर आज देश उनका साथ देने को तैयार नहीं है। वह अकेले रह गये हैं। और रवि बाबू के उस प्रसिद्ध गीत की भावना के अनुसार उन्होंने कहा है कि "यदि तेरी बात सुन कर कोई साथ नहीं देता तो अकेला चल।" क्या हमें हमारे बापू इतना निवेदन करने की आज्ञा देंगे कि राष्ट्रीय कार्यक्रम तो राष्ट्र के साथ देने और न देने पर ही निर्भर करते हैं। हाँ, अध्यात्म की सड़क पर आदमी जितना चाहे और जितनी दूर तक चाहे अकेला आगे बढ़ सकता है।

दूसरी बात बापू ने अपने सम्मेलन को छोड़ देने का कारण बताया है। हमें यह अयथार्थ लगता है। इन्दौर सम्मेलन के ही समय भाषा के बारे में यदि बापू की वही दृष्टि होती जो इधर चार-पाँच वर्षों से उन्होंने अपनाई है तो बापू इन्दौर सम्मेलन के समय से ही सम्मेलन में न होते। बापू प्रायः पुरानी बोतल में ही नयी शराब भरने के अभ्यासी हैं। इसलिये वह अपनी भाषा-सम्बन्धी इस नयी रीति-नीति को इन्दौर-सम्मेलन तक खींच ले जाना चाहते हैं। बापू की भाषा-सम्बन्धी विचारधारा बापू के लिए पुरानी रही हो, किन्तु हिन्दी साहित्य सम्मेलन के लिए वह नयी ही थी। सम्मेलन बिना अपनी परम्परा की लाज डुबोए उसे स्वीकार नहीं कर सकता था। बापू के सम्मेलन छोड़ने का यही यथार्थ कारण है। हाँ, यूँ, कोई भी चाहे तो किसी भी बात को अनैतिहासिक ढंग पर भी पेश कर ही सकता है।

पासपोर्ट

तीसरी बात हमारी भावना को भी इतना अधिक व्यक्त करती है कि

उसे छूते डर लगता है। माताएँ अपने मृत पुत्र से चिपटी रहती हैं। ऐसी हालत में कोई आश्चर्य नहीं कि बापू देश के इस अंग-विच्छेद को देश का अंग-विच्छेद स्वीकार ही न करें। बापू के यह शब्द कितने मार्मिक हैं—"मेरा राष्ट्र तो हिन्दुस्तान में भी है, पाकिस्तान में भी है। मुझे कोई कहीं नहीं रोक सकता। जिन्ना साहब रोकें। मैं कोई अलग प्रजा थोड़े ही बन गया हूँ। जिन्ना साहब मुझे कैद करें, मैं पासपोर्ट लेनेवाला नहीं हूँ।" अखण्ड भारत के प्रति इन पंक्तियों में इतना मोह है कि प्राणों में पैठता चला जा रहा है! किन्तु हे भारत के भाग्य-विधाता बापू! यदि मन में यही जलन छिपाये रहे तो इसे अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में क्यों नहीं व्यक्त किया? यदि कांग्रेस के नेताओं को तुम्हारा—नहीं आपका और केवल आपका—आशीर्वाद प्राप्त न हुआ होता, तो हम शायद एक बार हारी बाजी, फिर जीत जाते। अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस की बैठक में केवल एक 'आदमी' ने 'अकेले' चलने का साहस किया था—श्रद्धेय टंडनजी ने। काश! आपने वही पक्ष ग्रहण किया होता! और बापू! अब पासपोर्ट के लेने न लेने से वस्तु स्थिति में अन्तर नहीं आता। सिंहल विदेश है। वहाँ जाने के लिए किसी पासपोर्ट की आवश्यकता नहीं। यदि 'पाकिस्तान' और 'भारत' की सरकार चाहे तो यह अनिवार्य नहीं कि 'पासपोर्ट' की प्रथा आरम्भ की ही जाय। यदि ऐसा हो तो किसी को भी पासपोर्ट लेने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। और यदि हिन्दुस्तान-भारत से पाकिस्तान में जाने के लिए पासपोर्ट की आवश्यकता होगी तो पाकिस्तान से 'भारत' आने के लिए भी 'पासपोर्ट' की आवश्यकता होगी ही। बापू, किसी भी योग्य अधिकारी को आज्ञा देकर आपको भारत में 'पासपोर्ट' लेने और 'पाकिस्तान' से 'वीसा' माँगने की वैधानिक क्रिया—फार्मैलीटी—से मुक्त किया ही जा सकता है। जिन्ना की सरकार भी इतना 'सौजन्य' दिखा ही सकती है। किन्तु क्या इससे भारत 'अखण्ड' हो जायगा?

अब वस्तु स्थिति बदल गई है। देश में निश्चित रूप से परिवर्तन हो गया है। १५ अगस्त को जिस दिन संसार भारत को 'डोमीनियन स्टेटस' दिया जाना समझेगा उस दिन देश के अंग विच्छेद पर पक्की मोहर लग जायगी। तब हमें अपनी राष्ट्र-भाषा की गाड़ी को सुनिश्चित मार्ग पर दृढ़ता के साथ आगे बढ़ाना ही होगा। बापू, देश आप से नय मार्ग-प्रदर्शन की आशा रखता है।

साम्प्रदायिकता की राह चलने का परिणाम हम भुगत चुके। अब हमें केवल राष्ट्रीयता की राह चलना होगा।

वह महान् बौद्ध साधक

किसी का परिचय पहले होता है और दर्शन पीछे। प्रो. धर्मानन्द कोसम्बी का मुझे परिचय पहले मिला और दर्शन पीछे।

सन् १९२७ में जब मुझे सिंहल पहुँच कर वहाँ कुछ अध्ययन करने की इच्छा थी तब मैं किसी एक ऐसी पुस्तक की खोज में था जिसमें यहाँ से सिंहल पहुँचने के मार्ग का वर्णन हो और थोड़ा बहुत सिंहल का भी। मुझे पता लगा कि कोसम्बीजी की लिखी हुई 'आत्म-परिचय' ठीक एक ऐसी ही पुस्तक है। पुस्तक गुजराती में थी। साबरमती आश्रम अहमदाबाद के मगन भाई की कृपा से मुझे उसकी एक प्रति मिली। गुजरात में घूमते समय मैंने गुजराती की एक दो पोथियाँ पढ़ने के बाद उसी एक पुस्तक को हाथ लगाया। रेल का हर गुजराती भाषा-भाषी पढ़ा-लिखा आदमी मेरा गुरु था। कुछ दिन में मैं उस के पर्याप्त पृष्ठ पढ़ गया। सिंहल पहुँचा तब तक भी वह पुस्तक असमाप्त ही थी। राहुलजी से कहा—"पढ़ा दें।" बोले—अपने देश की भाषा पढ़ने के लिये किसी शिक्षक की आवश्यकता नहीं होती। स्वयं पढ़ लें। वह पुस्तक मैंने जैसे तैसे स्वयं ही समाप्त की। इस प्रकार मुझे कोसम्बीजी का दर्शन होने से भी पहले उनका 'परिचय' मिला जो इस प्रकार है :—

आज से ४७ वर्ष पूर्व एक महाराष्ट्र तरुण ने जिसकी आयु उस समय केवल २३ वर्ष की थी, भगवान् बुद्ध के चरित्र से प्रभावित हो उन्हीं की तरह अपनी सहधर्मिणी का त्याग कर अपनी जन्म भूमि कोसम्बी गोआ (पुर्तगाल राज्य) से प्रस्थान किया। सर्वप्रथम वह संस्कृत पढ़ने के लिये ग्वालियार और वहाँ से काशी गया काशी के अन्न-क्षेत्रों का अन्न खाते हुये डेढ़ दो वर्ष व्याकरण और संस्कृत-साहित्य की पढ़ाई की। तदनन्तर जीवित बौद्ध धर्म की खोज में नैपाल और बुद्ध गया। जब दोनों जगह निराशा हुई तो एक भिक्षु की सलाह पाकर अकथनीय त्रास, कष्ट और संकट झेलता हुआ सिंहल पहुँचा। जिस चीज की तलाश थी, वह मिल गई। कोलम्बो के विद्योदय-परिवेण में महास्थविर सुमंगलाचार्य से आपने प्रव्रज्या ग्रहण की और उन्हीं की अधीनता में पालिग्रन्थों

का अध्ययन आरम्भ किया। सिंहल के बाद बर्मा गये। एक बार बौद्ध तीर्थों की यात्रा करने के लिये भारत आये, किन्तु फिर वापिस बर्मा चले गये।

आज चालीस वर्ष पहले की 'बंग-भंग' की बात इतिहास ने फिर एक एक बार दोहराई है। किन्तु उस समय के बंग-भंग का राष्ट्रीय-भारत ने ऐसा विरोध किया था कि वह रद्द करना पड़ा। वह बंग-भंग राष्ट्रीयता का जनक सिद्ध हुआ था, राष्ट्रीयता का प्रबल पोषक। आज के बंग-भंग की राष्ट्रीय भारत को स्वयं माँग करनी पड़ी है। कैसी है यह विधि विडम्बना! उस समय के 'बंग-भंग के परिणाम स्वरूप बंगाल में राष्ट्रीय आन्दोलन ने जोर पकड़ा तो कलकत्ते में एक नेशनल कालेज की स्थापना हुई थी। कोसम्बीजी उस समय नेशनल कालेज तथा कलकत्ता यूनिवर्सिटी में पालिभाषा के अध्यापक के पद पर रहे।

यद्यपि कोसम्बीजी बंगाल में रहने लगे थे। किन्तु उनकी विशेष इच्छा महाराष्ट्र में बौद्ध धर्म तथा पालि का प्रचार करने की थी। उसी समय उन्हें श्रीमन्त सयाजीराव महाराज गायकवाड़ का तार मिला—

"आप महाराष्ट्र के किसी भी शहर में रहें। आपको बड़ौदा सरकार से ५०) मासिक बराबर मिलते रहेंगे। यह सहायता तीन वर्ष चालू रहेगी। हां, प्रति वर्ष एकाध पुस्तक आप बड़ौदा सरकार के लिये तैयार कर देंगे।" बहुत सोच विचार कर कोसम्बीजी ने यह प्रस्ताव स्वीकृत किया। इसके बारे में उन्होंने स्वयं लिखा है—

"प्रति मास २५०) की कलकत्ता यूनिवर्सिटी की नौकरी छोड़ कर ५०) माहवार का श्रीमन्त गायकवाड़ महाराजा का दिया वेतन स्वीकार करने में मुझे कभी पश्चात्ताप नहीं हुआ। यह वेतन न स्वीकार करता तो डा. वुडस् से परिचय न होता। पूना आकर रहने से डा. भन्डारकर से निकट सम्बन्ध स्थापित हुआ और उनके प्रयत्न से बम्बई यूनिवर्सिटी में पालि को स्थान मिला।"

डा. जेम्स एच. वुडस अमरीका की प्रसिद्ध हार्वर्ड यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर थे। पालि सीखने के ही उद्देश्य को लेकर उनका और कोसम्बीजी का परिचय हुआ। वह परिचय स्नेह में परिणत हो गया। विसुद्धिमग्ग नामक प्रसिद्ध पालि ग्रन्थ के सम्पादनार्थ उन्होंने कोसम्बीजी को अमरीका बुलाया। इस ग्रन्थ का सम्पादन और इस पर आगे चल कर पालि भाषा में ही लिखी गई टीका कोसम्बीजी के जीवन के विशेष कार्यों में भी विशेष है। सयाजीराव महाराज की स्वीकृति से कोसम्बीजी १९१० में अमरीका गये। हार्वर्ड यूनिवर्सिटी में संस्कृत भाषा के मुख्य आचार्य प्रो. लैनमैन के सहयोग में यह कार्य आरम्भ

हुआ। कोसम्बीजी को बहुत परिश्रम करना पड़ा। १९११ के अन्त तक विसुद्धिमग्ग का संशोधन कार्य हुआ। प्रो. लैनमैन से कोसम्बीजी की पटी नहीं। वह चाहता था कि लड़े सिपाही और नाम हो सरदार का। कोसम्बीजी ने डटकर विरोध किया। जब उसने देखा कि उसकी इच्छा पूरी नहीं होती, तो कोसम्बीजी ने एक बार बताया था, कि उसने उन्हें गोली मार देने तक की धमकी दी। छत्रपति शिवाजी महाराज के देश का यह पराक्रमी भी कब डरने वाला था। कोसम्बीजी १९११ में न्यूयार्क से स्वदेश वापिस लौट आये।

१९११ से १९१८ तक कोसम्बीजी यहाँ फर्गूसन कालेज में अध्यापक रहे। डा. वुडस के आग्रह से सन १९१८ में वह फिर अमरीका गये। प्रो. लैनमैन की कृपा से विसुद्धिमग्ग के सम्पादन का कार्य अभी अधूरा ही पड़ा था, जो कोसम्बीजी को अच्छा न लगता था। श्री वारेन के वसीयतनामें के अनुसार वह छपाया जा सकेगा, यही आशा उन्हें फिर अमरीका ले गई। किन्तु प्रो. लैनमैन के दुराग्रह के कारण चार वर्ष अमरीका में रहने पर भी वह कार्य समाप्त न हो सका। कोसम्बीजी के यह चार वर्ष अमरीका में बड़े कष्ट से बीते।

चार वर्ष बाद जब प्रो. लेनमैन ने नौकरी छोड़ दी तब १९२६ में कोसम्बीजी को फिर अमरीका जाना पड़ा। १९२७ में वह कार्य समाप्त कर भारत लौटे।

१९१० में जब कोसम्बीजी पहली बार अमरीका गये तभी उन के विचारों ने एक नई दिशा ग्रहण की। अमरीका में रहकर आपने समाज शास्त्र...विशेष रूप से समाजवाद के ग्रन्थों का अध्ययन किया। आपको निश्चय हो गया कि बिना पूंजीवाद को नष्ट किये और उसकी जगह साम्यवाद को स्थापित किये सामान्य जनता को सुख नहीं मिल सकता। लेकिन साथ ही वह यह देखते थे कि पाश्चात्य-देशों में समाजवाद जड़ नहीं पकड़ सकता क्योंकि सभी राष्ट्रों के हाथ हिंसा और अत्याचार से रंगे हैं। जब तक संसार भर के मजदूर आपस में प्रेम-पूर्वक मिलने के इस मार्ग को स्वीकार नहीं करते तब तक मनुष्य मनुष्य की हत्या करता ही रहेगा। परन्तु देशाभिमान से उन्मत्त लोग आपस में कैसे मिलेंगे?

"१९२० में महात्मा गान्धी के सत्याग्रह-संग्राम के समाचार एक के बाद एक अमरीका पहुंचने लगे। सत्याग्रह का आन्दोलन देखने के लिये अमरिकन रिपोर्टर भारत आये। यहाँ से वह कालम पर कालम समाचार वहाँ भेजते थे। जिन्हें पढ़कर मैं गद्गद् हो उठता और कभी कभी मेरी आँखों से आँसू गिरने लग जाते"। ऐसी मानसिक स्थिति में कोसम्बीजी १९२२ में भारत लौटे थे।

यहाँ वह गान्धी जी द्वारा आरम्भ किये गये गुजरात विद्यापीठ की पुरातत्वमंदिर शाखा में पालि भाषा के आचार्य की हैसियत से कार्य करते रहे।

१९२७ में जब फिर अमरीका जाकर लौटे तब भी पहले की तरह गुजरात विद्यापीठ में ही रहने लगे।

१९२९ में लैनिन-ग्राड (रूस) में बौद्ध संस्कृति के अध्ययनार्थ स्थापित संस्था का कार्य करने के लिये आप रूस गये। रूस ने आपको पक्का समाजवादी बना दिया। किन्तु रूस का जलवायु आपको अनुकूल नहीं पड़ा। १९३० के प्रारम्भ में ही आप हिन्दुस्तान वापिस चले आये। यहाँ पहुँचे तो सारे देश में सत्याग्रह युद्ध चल रहा था। मार्च में प्रसिद्ध डान्डी-यात्रा हुई। कोसम्बीजी इस स्वातंत्र्य-संग्राम में कूद पड़े। गाँव गाँव घूम कर प्रचार करने लगे। शिरोडे [जिला रत्नागिरी] में नमक-सत्याग्रह में हिस्सा लिया। अन्त में विलेपार्ले, बम्बई की सत्याग्रह छावनी के डिक्टेटर बने। वहाँ से पकड़े जाने के बाद हाई-कोर्ट द्वारा शीघ्र ही छोड़ दिये गये।

१९३१ में डा. वुडस के ही आग्रह से आप चौथी बार अमरीका गये। १९३२ में लौटे। कदाचित् यही आपकी अन्तिम विदेश-यात्रा थी।

१९३४ में आप बनारस आकर रहने लगे। छः महीने हिन्दू-विश्व-विद्यालय के अतिथि रहे। उसके बाद काशी विद्यापीठ। विद्यापीठ के संचालकों ने आपके लिये एक कमरा बनवा दिया था।

१९३७ में शायद, जब डा. अम्बेडकर ने धर्म-परिवर्तन की घोषणा की थी, उसी समय परेल बम्बई में जहाँ अधिकांश श्रमजीवी लोग रहते हैं, एक बहुजन विहार [जनता के विहार] की स्थापना हुई। शायद दो वर्ष आप वहाँ रहे। बाद में आपने वहाँ रहना छोड़ दिया।

पिछले आठ दस वर्ष सारनाथ, बनारस, अहमदाबाद, बम्बई आदि अनेक जगहों में ताना-बाना करते ही बीते।

मैंने कोसम्बीजी को सब से पहले उस विलेपार्ले के कैम्प में सत्याग्रह-संग्राम के डिक्टेटर के रूप में ही देखा। उसी संग्राम में हिस्सा लेने के लिये मैं स्वयं सिंहल से भारत आया था। क्योंकि मैं बिहार प्रान्त में ही आकर कुछ कार्य करना चाहता था, इसलिये याद आता है कि बम्बई में मैंने कोसम्बीजी का व्याख्यान देने का निमंत्रण भी स्वीकार नहीं किया था। हाँ, उनके साथ घूम-फिर कर बम्बई की स्थिति का खूब अवलोकन किया। जब मैं उनसे विदा लेने लगा तो उन्होंने एक सज्जन से कहा, "बौद्ध-भिक्षु अपने पास पैसा नहीं रखते। तुम जाओ इन्हें टिकट ले दो।"

मैं धर्म-संकट में पड़ गया। मेरे पास पैसा था। आखिर मैंने हिम्मत करके कहा—"यह भाई टिकट भले ही ले दें, किन्तु मेरे पास पैसा है।"

सुना है, कोसम्बीजी जब और जितने दिन भिक्षु रहे पैसा नहीं रखते रहे। भारत में वह पैसा न रखकर अपने पास कुछ स्टाम्प रखते थे। मैंने कागज के छोटे छोटे स्टाम्पों में और कागज के बड़े-बड़े नोटों में विशेष अन्तर न समझ नोट ही रखने शुरू कर दिये। किन्तु तो भी बहुत समय तक पैसा रखने और न रखने के अन्तर्द्वन्द्व में मैं भी फँसा रहा हूँ। कोसम्बीजी ने पीत वस्त्र छोड़ कर शीघ्र ही इस अन्तर्द्वन्द्व से मुक्ति पा ली थी।

फिर याद नहीं उन्हें कब कहाँ देखा? शायद उस समय जब वह हिन्दू-विश्वविद्यालय के अतिथि बनकर रह रहे थे। बाद में तो बहुत दिनों सारनाथ में उनका सान्निध्य प्राप्त रहा।

वह सारनाथ भर के आचार्य थे। हम सभी उन से रोज घंटा दो घंटा लेते थे। विसुद्धिमग्ग पढ़ने वालों की तो पूरी एक मण्डली थी। वह उन्हें उप-स्थित भी खूब था। पुस्तक देखकर पढ़ने वालों की गलती वह बहुधा बिना पुस्तक देखे ही ठीक किया करते थे। पढ़ाते-पढ़ाते कभी कहीं कोई सन्देह पैदा हो जाता तो वह जैसे तैसे उस स्थल को कभी भी लाँघने के लिये तैयार न थे। यह कोष और वह कोष, यह संदर्भ-पुस्तक और वह संदर्भ-पुस्तक का ढेर लगा देते थे। किसी लेखक ने अपनी पुस्तक में किसी दूसरे ग्रंथ का उल्लेख किया हो तो वह उसके लिखने मात्र पर विश्वास न कर उस ग्रन्थ को मँगाकर देखते थे कि उस लेखक का लिखना यथार्थ है वा नहीं? उनका यह अविश्वास कभी कभी बड़ी ही हैरानी का कारण होता था। शिष्य-मण्डली को प्रतीक्षा में बैठे रहना पड़ता था। अपने प्रत्येक कथन का प्रमाण दिखाना और दूसरे के प्रत्येक कथन का प्रमाण देखना, यह उनके अध्यापन की विशेषता थी। इसके बिना तो उनके साथ पढ़ने वालों की गाड़ी दो कदम आगे नहीं चल सकती थी।

अपने मत में कोसम्बीजी बे-हिसाब आग्रही थे। दुराग्रही कहें, तो अनु-चित न होगा। एक दिन की बात। भुलाये भूल ही नहीं सकती। मैं उनके साथ बैठ कर अपना जातक अनुवाद दोहराया करता था। वह समाप्त हो गया तो महावंश दोहराने लगा। इसी में मैं रोज उनके घंटे दो घंटे ले लेता था इसलिये इच्छा होने पर भी उनके पास कोई ग्रन्थ न पढ़ता था। किन्तु उन्हीं दिनों न जाने किस कर्म के फल-स्वरूप मुझ पर यह विपत्ति आ पड़ी। रेडियो पर 'बौद्ध धर्म की रूप-रेखा' शीर्षक से मेरा एक छोटा सा भाषण हुआ था, वह सारनाथ से प्रकाशित होने वाले 'धर्म-दूत' में छपने जा रहा था। कोसम्बीजी उन दिनों 'धर्म-

दूत, के सम्पादक के सलाहकार थे। उनके ख्याल से मैंने अपने भाषण में एक जो बात कही थी वह 'बराबर' नहीं थी। उन्होंने मुझे बुलाकर कहा कि इसमें परिवर्तन कर देना चाहिये। मेरा अपराध यह था कि मुझे कोसम्बीजी की बात ठीक लगते हुये भी अपनी बात विशेष गलत नहीं लग रही थी। दूसरे वह मेरा स्वतन्त्र लेख नहीं था। यदि भाषण में कुछ अयथार्थ कहा गया था, तो उसकी रिपोर्ट तो वैसी ही छपनी चाहिये थी। उसमें मुझे अथवा किसी को भी कुछ परिवर्तन करने का क्या अधिकार? इसलिए मैंने उनके सामने यह प्रस्ताव रखा कि वह मेरे भाषण की रिपोर्ट जैसी की तैसी छपने दें और जहाँ मेरा कथन 'बराबर' नहीं है, वहाँ सम्पादक की ओर से टिप्पणी दे दें। उनका संकोच भी बेहिसाब नहीं था। वह कहते थे कि 'धर्म-दूत' में तुम्हारा भाषण छपे और उस पर 'धर्म-दूत' के सम्पादक की ओर से टिप्पणी हो! यह कैसे हो सकता है! वह चाहते थे कि मैं स्वयं ही अपने हाथ से अपने भाषण को बदल दूँ। बड़ी देर तक चर्चा होती रही। मैं उन्हें जिद्दी समझ रहा था, किन्तु लगता है कि स्वयं भी कम जिद्दी न था। जब न मैं उनकी बात मान सका और न अपनी मनवा सका तो उनके मुँह से एक ऐसी दुखःद बात निकली जो मुझे वज्र के समान लगी। बोले, मैं तुम्हें अपनी बात नहीं समझा सकता। इससे अब यूं हमारी तुम्हारी मैत्री रहेगी, किन्तु अब से किसी प्रकार का शास्त्रीय-सहयोग (intelle ctual coopration) नहीं रहेगा। मैंने बहुत कहा, अनुनय-विनय के साथ कहा, मिन्नत की—"मेरा अपराध इतना ही है कि अपनी बात का आग्रह नहीं छोड़ रहा हूँ। इस छोटे से अपराध के लिये इतना कड़ा दण्ड न दें।" किन्तु उनके मुँह से जो बात निकल गई, वह तो अब वज्र लेख हो गई थी। मुझे अपना सब पुस्तक-पत्रा उठा कर कोसम्बीजी के कमरे से अपना सा मुँह लिये निकल आना पड़ा। मेरी बलवती इच्छा थी कि महावंश अनुवाद प्रकाशित होने पर मैं उन्हें ही समर्पण करूँ। किन्तु इस डर से कि कहीं उस समर्पण से वे चिढ़ न जायें और उन्हें दुःख न हो मैंने वह उन्हें समर्पण न कर अनागरिक धर्मपाल को समर्पित कर दिया। जो काम उनके जीते जी न कर सका, वह अब क्या होगा? सो भी एक महावंश ही क्या मैं अपना सब पाली का लिखना-पढ़ना आज भी उनकी कृतज्ञता-पूर्ण स्मृति को समर्पित कर सकता हूँ, करता हूँ।

वे बहुत घूमे थे। उन्होंने बहुत दुनिया देखी थी। पढ़ा लिखा भी कम नहीं था। और जो पढ़ा-लिखा था वह विद्या कंठ में थी। अपनी किसी भी बात को स्पष्ट करने के लिये वह प्रायः एक किस्सा कहा करते थे। उनके कितने ही किस्से

याद आ रहे हैं और कोसम्बीजी की तत्व-निष्ठामय मूर्ति की याद दिला रहे हैं।

बच्चे प्रायः सबको अच्छे लगते हैं, किन्तु कोसम्बीजी कुछ इतने एकान्त प्रिय और अकेले थे कि उन्हें यह भी पसन्द नहीं था कि लड़के उनकी कुटिया की ओर अधिक आयें जायें। वे अपना अधिकांश काम स्वयं अपने ही हाथों कर लेते थे। वे इतनी सुघड़ता से रहते थे और रहना पसन्द करते थे कि कोई दूसरा उनका काम वैसे कर ही नहीं सकता था।

उनके लिखे ग्रन्थों की संख्या पर्याप्त है। सभी के नाम सहसा लेखनी पर आते भी नहीं। गुजराती-मराठी में लिखा 'बुद्ध-लीला-सार-संग्रह' बहुत जनप्रिय हुआ है। मराठी में दो खण्डों में 'भगवान-बुद्ध' है, जिसमें कोसम्बीजी की मौलिक दृष्टि व्यक्त हुई है। उन्होंने अपनी इस पुस्तक में बुद्ध के बूढ़े, रोगी और मृत-व्यक्ति को देख कर संसार त्यागने की सर्व-विदित और सर्वत्र-प्रचलित बात तक को अस्वीकार किया है। जैन मुनियों के मांसाहार सम्बन्धी किसी उल्लेख को लेकर पिछले दिनों जैनियों की ओर से बड़ा ही हल्ला मचाया गया था, किन्तु कोसम्बीजी टस से मस नहीं हुए। बड़ी ही दृढ़ता और वीरता पूर्वक उन्होंने सारे विरोध का सामना किया। 'अहिंसा आणि हिन्दी संस्कृति' कोसम्बीजी का एक और महत्त्व पूर्ण ग्रन्थ है जिसे लिख कर कोसम्बीजी को भी बड़े संतोष का अनुभव हुआ था। उस ग्रन्थ में उन्होंने वैदिक युग से लेकर गान्धी युग तक अहिंसा के तात्विक तथा व्यावहारिक रूप का अध्ययन किया है। जो सत्य प्रतीत हुआ, वह लिखने लगे हैं तो फिर कोई नहीं बचा न बौद्ध-भिक्षु बचे हैं और न गान्धीजी बचे। इस ग्रन्थ का हिन्दी-अनुवाद अब हम शीघ्र ही प्रकाशित देखेंगे।

उनकी विसुद्धिमग्ग तथा अभिधम्मत्थसंगहो की पालि टीकायें जब और जहाँ भी पाली वाङ्मय का गहरा अध्ययन होगा, पढ़ी जायेंगी और आदर से पढ़ी जायेंगी।

चार जून ४७ की दोपहर के बाद से कोसम्बीजी हमारे बीच में नहीं रहे। नहीं रहे तो उनकी याद क्यों बनी? तब कहना होगा कि भौतिक-शरीर रूप में नहीं रहे। वह भी तो सेवाग्राम की टीकरी की मिट्टी के साथ ही राख-होकर मिला पड़ा है। यही वह रहस्य है जो उपनिषद् के नचिकेता से लेकर आज तक किसी की समझ में नहीं आया। दार्शनिक दर्शन की भाषा में एक जानकार की तरह बोल सकता है। किन्तु मन ही मन उसे भी लगता है कि कुछ भी तो नहीं जानता। उनके बारे में डा. नायर ने लिखा है—"बौद्ध-धर्म की शिक्षा के

मुताबिक उन्होंने सोचा कि अन्न उपवास करके जिन्दगी खतम करनी चाहिये।" न जाने डा. सुशीला नायर से किसने कह दिया कि बुद्ध धर्म की शिक्षा है कि उपवास करके जीवन समाप्त कर दिया जाय। कोसम्बीजी बौद्ध विद्वान थे। किन्तु किसी धर्म का कोई विद्वान् भी जो कुछ करता है, वह क्या सब उसके अनुकूल ही होता है ?

कोसम्बीजी ने अन्न-त्याग द्वारा अपने शरीर का त्याग किया। जीवन के मोह से बिना छूटे कोई ऐसा सहज नहीं कर सकता। किन्तु कौन कह सकता है कि यह मृत्यु का मोह नहीं था ? सच्ची बात है कि कोसम्बीजी के जीवन में एक ऐसा अकेला-पन था, कि उनका सारा ज्ञान भी उसे परास्त नहीं कर सका था। वे इधर बरसों से अस्वस्थ थे। प्रायः शरीर खुजलाता था और नींद नहीं आती थी। क्या डाक्टरी और क्या प्राकृतिक चिकित्सा वह सब ओर से निराश हो गये थे। उन्हें विश्वास हो गया था कि उस शरीर से वह जो कुछ भी आत्म-हित वा पर-हित कर सकते थे वह हो चुका था। उन्होंने शरीर-त्याग का पहला प्रयत्न जिला आजमगढ़ के एक हरिजन-गुरुकुल में किया था। बापू के बीच में पड़ जाने के कारण उन्हें आधे रास्तेसे लौट कर आना पड़ा। तब वह कुछ दिन काशी और बम्बई की चिकित्साओं के फेर में रह कर बापू के प्रेमपूर्ण आग्रह को स्वीकार कर सेवाग्राम ही चले आये। यहीं उन्होंने अपना शरीर-त्याग किया।

एक दिन सूचना पाकर मैं सेवाग्राम गया। बोले, कुछ नहीं केवल इसलिये बुलवाया कि कहीं बाहर चले जायेंगे तो फिर दर्शन न हों।

मेरी आँखें तो नहीं किन्तु मन भर आया। उन की बात सच्ची हुई। मैं जब कालिम्पोङ्ग से वापिस वर्धा लौट रहा था, तो कलकत्ते में पढ़ा कि अब कोसम्बीजी को वर्धा पहुँचने पर न देख सकूँगा।

उन्हें श्री कमलनारायण बजाज ने १०००) दिये थे। कोसम्बीजी ने बापू को लिखा कि उसमें और रुपये डाल कर पाली भाषा और बौद्ध धर्म के अभ्यास की इच्छा रखने वाले योग्य विद्यार्थियों को छात्र-वृत्ति देकर लंका भेजा जाय।

इस पर बापू ने लिखा कि पाली भाषा तो लंका में सीखी जायेगी, किन्तु बौद्ध धर्म सीखने का क्षेत्र लंका है, ऐसा मैं नहीं मानता।

कोसम्बीजी का उत्तर था "आम और नीम एक ही जमीन में बढ़ते हैं, मगर आम का फल अलग होता है नीम का फल अलग।"

बापू का आशय बौद्ध धर्म सीखने से बुद्ध की शिक्षाओं को जीवन में उतारने से है। वह तो किसी देश-विशेष की बपौती नहीं।

लेकिन हम इस समय कोसम्बीजी की समाधि पर बैठ कर यह सब चर्चा नहीं कर सकते। हमें शायद करनी भी नहीं चाहिये। हमारा कर्त्तव्य है कि हम उन १०००) को बढ़ाकर एक धर्मानन्द-छात्र वृत्ति स्थापित करें, जिससे कोसम्बी जी की अन्तिम इच्छा पूर्ण हो।

बापू ने पाँच तारीख की प्रार्थना में कहा "वह तो मैं करूँगा ही।"

आशा है बापू एक छोटी सी अपील निकाल कर कोसम्बीजी के प्रेमियों को उसमें कुछ दान देने का अवसर देंगे।

—:०:—

अब जनि चूको

अल्पसंख्यकों के अधिकारों के बारे में सरदार पटेल की अध्यक्षता में जो कमेटी बैठी थी उसने अपनी रिपोर्ट और अपनी सिफारिशें पेश कर दी हैं। रिपोर्ट और सिफारिशें देश के पत्रों द्वारा सभी पाठकों तक पहुँच चुकी हैं। वे हैं—

१—साम्प्रदायिक आधार पर कोई चुनाव न होंगे।

२—अल्पसंख्यकों के लिए जनसंख्या के हिसाब से स्थान "सुरक्षित" रहेंगे।

३—अल्पसंख्या वाले इन "सुरक्षित" स्थानों के अतिरिक्त साधारण स्थानों पर भी अधिकार कर सकेंगे।

भाषा आदमी को अपने भाव व्यक्त करने के लिए मिली है, किन्तु हम उससे अपने भावों को छिपा कर व्यक्त करने का भी काम लेते हैं। यह बहु-संख्यक और अल्पसंख्यक ऐसे ही सीधी सरल बात को उलझाने वाले दो शब्द हैं, जिनका अर्थ है हिन्दू तथा मुसलमान या ईसाई या एंग्लो इंडियन आदि।

सूर्य्य उदय होने पर दिन होता ही है, स्वराज्य होने पर यदि हर सरकारी दफ्तर पर तिरङ्गा फहराये तो यह ऐसी स्वाभाविक बात है कि उस पर किसी को किसी तरह का भी आश्चर्य नहीं होता। स्वराज्य होना प्रसन्नता की बात है, किन्तु तिरङ्गा फहराना आश्चर्य की नहीं।

उसी प्रकार यदि अल्पसंख्यकों के अधिकारों पर विचार करनेवाली कमेटी ने विधान परिषद से यह सिफारिश की है कि अब साम्प्रदायिक आधार पर कोई चुनाव न होंगे तो यह न किसी के विशेष प्रसन्न होने की बात है और न किसी के लिए आश्चर्य की।

किन्तु आश्चर्य ही नहीं, हमें यह देख कर दुःख हुआ है कि जिस कमेटी ने अपनी पहली सिफारिश में जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है उसी कमेटी ने अपनी दूसरी सिफारिशों में उसी सिद्धान्त का यदि खंडन नहीं तो विरोध अवश्य कर दिया है।

यदि साम्प्रदायिक आधार पर कोई चुनाव न हो सकेंगे तो साम्प्रदायिक आधार पर कोई भी स्थान क्यों और कैसे सुरक्षित रखे जा सकेंगे ?

उत्तर है जो सम्प्रदाय इतने दिनों तक साम्प्रदायिक आधार पर चुनाव करते कराने के अभ्यासी रहे हैं, उनके लिए यदि कोई स्थान "सुरक्षित" तक भी न रखे जायंगे तो उन्हें सहसा चोट लगेगी। इसलिए उन्हें दस वर्ष का समय दिया जाता है कि दस वर्ष में वे शनैः शनैः असाम्प्रदायिक दृष्टि से सोचने के अभ्यासी हो जाएँ।

एक डाक्टर को एक रोगी के विष-भरे फोड़े को चीरना है। क्या उसके लिए यह उचित होगा कि वह फोड़े में थोड़ा विष रहने दे और फिर जब वह विष बढ़ जाए तब फिर उसका आपरेशन करने की बात सोचे ? हमें अल्पसंख्यक कमेटी के यह निर्णय किसी डाक्टर का ऐसा ही अधकचरा आपरेशन मालूम होते हैं। क्या विधान-निर्मात्री परिषद् इन सिफारिशों को मानने के लिए बाध्य है ?

पानी के बड़े से बड़े घड़े को एक छोटा सा छेद खाली कर डाल सकता है। हमारे बड़े से बड़े सिद्धान्त को उसकी तह में उगी हुई कोई छोटी सी विरोधी बात पलट दे सकती है। हमें अपने देश के राजकीय-जीवन से मजहबी आधार की बात को जड़मूल से निकाल देना है। क्या स्वतंत्र देशों में कोई एक भी ऐसा देश है जिसके राजकीय-जीवन में मजहबी आधार को स्थान हो ? यदि नहीं तो फिर सारे संसार में एक यह हमारा देश ही ऐसा अभागा देश क्यों रहे ?

आदर्श की बात शेखचिल्ली की बात समझी जाती है। राजनीतिज्ञ अपने आप को बहुत व्यावहारिक और न्याय की बात करने वाले समझते हैं। हम एक साधारण नागरिक की हैसियत से जानना चाहते हैं—

(१) विशेष सुरक्षित "स्थानों" की आवश्यकता पारसियों जैसी वास्तविक अल्पसंख्यक जातियों को है अथवा उन्हें जो जोर जबर्दस्ती से अल्पसंख्यक तथा पिछड़ी हुई बनती हैं ?

(२) यदि पारसियों तक ने न विशेष सुरक्षित स्थान की माँग की है और न वे चाहते हैं तो कोई दूसरी 'अल्पसंख्या' किस पर ऐसी माँग कर सकती है और किस आधार पर उसकी माँग स्वीकृत की जा सकती है ?

(३) यह "सुरक्षित" स्थान किसी एक ही सम्प्रदाय के लिए तो रखे नहीं जा रहे हैं। 'मुसलमान' अल्पसंख्क हैं, 'ईसाई' अल्पसंख्यक हैं, 'एंग्लो इंडियन' अल्पसंख्यक हैं, 'सिक्ख' अल्पसंख्यक हैं, 'परिगणित जातियाँ' (अछूत)

अल्पसंख्यक हैं, 'आदिवासी' अल्पसंख्यक हैं। उनकी जनसंख्या के ही हिसाब से सही, इन सब अल्पसंख्यकों के लिए आप कितने स्थान "सुरक्षित" रखेंगे? यह "सुरक्षित" स्थान शेष "असुरक्षित" स्थानों के अनुपात में कितने होंगे? जब ये अल्पसंख्यक जातियाँ' अपने इन सुरक्षित स्थानों को हथिया लेने के बाद आपके "असुरक्षित" स्थानों में से भी कुछ पर अधिकार जमा लेंगी, तब असुरक्षित स्थानों का क्या होगा? कुछ मुसलमान लेंगे, कुछ ईसाई लेंगे, कुछ एंग्लो इंडियन लेंगे, कुछ सिख लेंगे, कुछ अछूत लेंगे, कुछ और आदिम-वासी लेंगे। तब क्या असुरक्षित स्थान वालों के सभी स्थान असुरक्षित ही नहीं अरक्षित तक नहीं हो जायेंगे?

हम अपने जिन अंगों की विशेष सहायता करना चाहते हैं वह होनी ही चाहिए, किन्तु इतनी और ऐसी नहीं कि हृदय का रक्त ही सूखने लगे।

स्वतंत्र देश के स्वतंत्र नागरिकों को साम्प्रदायिकता की भाषा में सोचना ही नहीं चाहिए। किन्तु यदि कोई सम्प्रदाय "सुरक्षित" स्थानों के लिए आग्रह करता ही है तो फिर उसके सभासदों को सामान्य स्थानों के लिए चुनाव में खड़े होने की छुट्टी नहीं होनी चाहिए।

यदि हमने अपनी राष्ट्रीयता की नौका में इस समय कोई छिद्र रहने दिया तो वही बड़ा हो कर कल ही समस्त राष्ट्र के लिए खतरा बन सकता है।

१० वर्ष में साम्प्रदायिकता के इस पौधे को उखाड़ फेंकना आज की अपेक्षा कठिन ही होगा। पौधा कुछ बढ़ेगा ही, घटेगा नहीं।

यह आज और अभी करने का काम है। राष्ट्रीयता के सिद्धान्त में कोई समझौता नहीं, किसी से नहीं, कभी भी नहीं।

—:※:—

इण्डिया की राष्ट्रभाषा इण्डियानी

लोग कहते हैं कि काशी शिवजी के त्रिशूल पर बसी है और इसलिए 'तीन लोक से काशी न्यारी' है। यह पुराने जमाने की बात है। इस बात का अद्यतन संस्करण यह है कि हमारा बूढ़ा भारत—जिसे अंग्रेजों की गुलामी की यादगार बनाये रखने के लिये 'इण्डिया' नाम दिया गया है, न जाने कब से अपनी तीन टाँगों पर ही खड़ा है!

बहुत पुराने समय में इसका दर्शन अद्वैतवाद था। एकमात्र ब्रह्म की सत्यता का प्रतिपादन। फिर द्वैतवाद हुआ—जीव तथा परमात्मा की सत्यता का प्रतिपादन। और सबसे आधुनिक दर्शन त्रैतवाद है—जीव, प्रकृति तथा परमात्मा के अनादि अनन्त होने का प्रतिपादन।

दर्शन को छोड़कर आप धर्मों की बात लें तो भी वहाँ त्रैतवाद ही दिखाई देगा—हिन्दू, मुसलिम, ईसाई।

हिन्दुओं की वर्णों की बात लें तो किसी समय शायद केवल 'आर्य' ही 'आर्य' थे। फिर दो वर्ण हुये—'आर्य' और 'दास'। कहने को इस समय चार वर्ण हैं, लेकिन कौन नहीं जानता कि द्विज वर्ण तीन ही हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य। शूद्र तो बेचारे उक्त तीनों वर्णों की सेवा करने के लिये सेवादारों की एक श्रेणीमात्र हैं।

असम्भव नहीं कि बूढ़े भारत का तीन टाँगों का ही नहीं, उसे तीन आँखों का भी वरदान प्राप्त हो। अन्यथा भारतीय विशेषताओं की कोई दूसरी बुद्धिसंगत व्याख्या स्वीकार करनी होगी।

ब्रिटेन भारत की अपेक्षा छोटा देश सही, बहुत छोटा। लेकिन क्या आपने वहाँ कभी किसी अंग्रेजी लिट्रेरी एसोसिएशन अथवा रोमन प्रचारिणी सभा की बात सुनी है? अपने यहाँ हिन्दी साहित्य सम्मेलन भी है और नागरी प्रचारिणी सभा भी है।

'अंग्रेजी' के नाम से ही स्पष्ट है कि वह सारे ब्रिटेन की भाषा नहीं—केवल इंगलैण्ड भर की है। स्काटलैण्ड ब्रिटेन का उत्तरी भाग है। वहाँ की अपनी भाषा है। वेल्स पश्चिमी भाग है। वहाँ की अपनी भाषा है। किन्तु

अंग्रेजी ब्रिटेन की ही राज-भाषा नहीं, सारे ब्रिटिश साम्राज्य की साम्राज्य-भाषा रही है और अभी ब्रिटिश कामन-वेल्थ के रहते उसकी इमारत के ढहने के कोई लक्षण नहीं।

हिन्दी भारत भर के १८ प्रांतों की भाषा न सही, भारत के हृदयस्थ अनेक प्रांतों की सांस्कृतिक और साहित्यिक भाषा है। संसार भर में इसके बोलने वालों की संख्या शायद तीसरे नम्बर पर है। इतना होने पर भी हमारी विधान परिषद् के सामने जब इसे राष्ट्रभाषा स्वीकार करने का प्रस्ताव आता है तो उस प्रस्ताव को बनाने के लिये बार-बार कमेटियों पर कमेटियाँ बनती जा रही हैं!

२८ जुलाई के रेडियो ने घोषणा की है कि अब राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर परिषद् की दूसरी बैठक में विचार हो सकेगा।

अभी कांग्रेस पार्टी की बैठक में जब राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर विचार हुआ तो ६३ वोट पक्ष में थे और शायद ३२ विरुद्ध। न जाने इन विरोधी-मतों का पक्ष क्या था?

और देवनागरी लिपि को राष्ट्रीय लिपि मानने के बारे में भी वोट लिये गये! देश भर की भाषाओं ने ही नहीं, पड़ोसी सिंहल, स्याम, बरमा, तिब्बत तक की भाषाओं ने जिस देवनागरी वर्णमाला को अपना रक्खा है उसके बारे में हमारी कांग्रेस पार्टी में वोट लिये गये। ६३ मत पक्ष में थे, कुल १८ विरुद्ध। ६३ मत पक्ष में आये इसमें आश्चर्य नहीं। आश्चर्य है कि १८ मत विरुद्ध कैसे आये? इन अट्ठारह विरोधी-मतों का पक्ष क्या रहा होगा!

कांग्रेस पार्टी के इन निर्णयों को हमारे देश के 'देशदूत' ने तो विधान परिषद् का निर्णय ही मान लिया। २७ जुलाई के सम्पादकीय में वह लिखता है:—

"भारतीय विधान परिषद् ने बहुमत से स्वीकार कर लिया है कि स्वतंत्र हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा हिन्दी होगी और लिपि देवनागरी।"

"देशदूत' के सम्पादक के मुँह में घी-शक्कर। हम यह मानते हैं कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा के आसन पर आसीन देखने की बलवती इच्छा के कारण ही 'देशदूत' के सम्पादक की लेखनी से यह 'राष्ट्रभाषा हिन्दी' शीर्षक ढाई कालम का लेख लिखा गया होगा। लेकिन तो भी उन्हें मालूम होना चाहिए कि यह वह देश है, जिसमें विचित्र-विचित्र अनहोनी बातें घट सकती हैं। नई दिल्ली में २४ जुलाई को ही राष्ट्र के बापू ने दोहराया है:—

"यद्यपि मैं हिन्दी साहित्य सम्मेलन का दो बार सदर रहा हूँ मगर फिर भी मेरा यह दावा है कि हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी हो ही नहीं सकती।"

सामान्य आदमी की जिद 'हठ' कहलाती है, महान् पुरुषों की जिद उनका आग्रह। हमारे बापू तो सत्याग्रहमय हैं ही।

वे जिस बात का दावा करते हैं उसे कार्य रूप में परिणत करने-कराने के प्रयत्नों में कभी कुछ बाकी नहीं छोड़ते। हमें आश्चर्य नहीं होगा यदि हम अकस्मात सुनें कि हमारी विधान परिषद् ने "हिन्दुस्तानी" को अपनी राष्ट्र-भाषा स्वीकार किया है।

कांग्रेस पार्टी ने राष्ट्रभाषा के बारे में अपने सब सदस्यों के बहुमत के निर्णय के बावजूद उन्हें पार्टी-निर्णय के बन्धन से मुक्त कर दिया। यदि विधान परिषद् में पार्टी-निर्णय के अनुसार वोट देना अनिवार्य रखने की आवश्यकता नहीं रही, तो कांग्रेस पार्टी में इस प्रश्न पर विचार करने की ही क्या आव-श्यकता थी? ऐसा लगता है कि कांग्रेस पार्टी के अधिकांश सदस्यों का निर्णय आशा के विपरीत होने से ही शायद ऐसा निर्णय करना पड़ा।

हिन्दी-हिन्दुस्तानी की चर्चा अब पुरानी हो चली। कोई निर्णय हो जाने के बाद किसी प्रस्ताव का कोई मूल्य नहीं रहता। हमें हर्ष है कि भारतीय विधान परिषद् ने राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर आगामी बैठक में विचार करने का निश्चय किया है। हम उसके सदस्यों के सामने बड़ी विनम्रता से एक नया प्रस्ताव रखना चाहते हैं। प्रस्ताव इस प्रकार है:—

"चूंकि हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का ही नहीं किन्तु कांग्रेस के अधिकांश सदस्यों का यह मत है कि देश की राष्ट्रभाषा हिन्दी स्वीकार की जानी चाहिए, किन्तु चूंकि पूज्य बापू का यह दावा है कि हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा हिन्दी हो ही नहीं सकती, इसलिये यह विधान परिषद् घोषणा करती है कि इन्डिया की राष्ट्रभाषा इन्डियानी हो।"

आप प्रस्तावक से यह जानना चाहेंगे कि यह इन्डियानी कौन-सी भाषा है? प्रस्तावक भाषा का परिचय, अनुमोदन, समर्थन, सब एक साथ करने की आज्ञा चाहता है।

(१) हिन्दी के बारे में लोगों को सन्देह है कि वह हिन्दुओं की भाषा है, और उर्दू के बारे में लोगों को सन्देह है कि वह मुसलमानों की भाषा है। यदि हिन्दी तथा उर्दू दोनों को छोड़ कर 'हिन्दुस्तानी' को अपनाया जाय तो वह भी केवल हिन्दुओं और मुसलमानों की ही सम्मिलित भाषा होगी। बेचारे ईसाइयों

का क्या होगा ? इसीलिये हिन्दुओं, मुसलमानों तथा ईसाइयों की सम्मिलित भाषा के लिये एक नये नाम की आवश्यकता है। वह नाम है—इंडियानी।

(२) यूँ हमें काम से काम रखना चाहिये। नाम गौण वस्तु है। किन्तु तो भी नाम का भी महत्व है ही। यदि पाकिस्तान न बनता तो हम अपने प्यारे देश को 'हिन्दुस्तान' कहना ही पसन्द करते। अब पाकिस्तान बन जाने से 'हिन्दुस्तान' शब्द में साम्प्रदायिकता की गंध आ ही गई है। 'हिन्दी' तो पहले से साम्प्रदायिक है, अब 'हिन्दुस्तान' और 'हिन्दुस्तानी' भी साम्प्रदायिक हो ही गये हैं। हमने बहुत सोच विचार कर बूढ़े भारत को नया नाम दिया है, उसके पुनर्जन्म के उपलक्ष्य में। वह नाम है इंडिया। किसी प्रकार की भी साम्प्रदायिकता छू तक नहीं गई है! देश का नाम इंडिया—कैसा पौरुषपूर्ण नाम! उसकी राष्ट्रभाषा का नाम इंडियानी—क्या मनोहर नाम!

(३) हिन्दी और उर्दू दोनों इस देश की भाषायें हैं, किन्तु एक में संस्कृत शब्दों की बहुलता रहती है तो दूसरी में अरबी फारसी की। दोनों एक दूसरे से दूर-दूर रहने के लिए प्रयत्नशील हैं। हम मान लेते हैं कि वह 'हिन्दुस्तानी', जिसमें संस्कृत और अरबी-फारसी के शब्दों का एकदम बराबर का—पचास पचास का—अनुपात रहेगा, इस हिन्दी और उर्दू से अच्छी होगी। लेकिन तब 'इंगलिस्तानी' का क्या होगा ? 'हिन्दी' और 'उर्दू' की ही तरह शुद्ध स्वदेशी भाषा, किन्तु जिसमें संस्कृत तथा अरबी फारसी के शब्दों की जगह अंग्रेजी शब्दों की भरमार रहती है, 'इंगलिस्तानी' कहलाती है। पिछले पचास वर्षों से इस देश के अधिकांश पढ़े लिखे लोग इस "इंगलिस्तानी" का व्यवहार करते हैं। उन अंग्रेजी शब्दों को, जो इस देश की नई वर्ण-संकरी राष्ट्रभाषा में प्रचलित हो गये हैं, निकालना आसान नहीं। ऐसी स्थिति में हमारे सामने यही एक रास्ता है—हम एक ऐसी मिली जुली भाषा बनायें, जिसमें ३३ प्रतिशत संस्कृत के शब्द हों, ३३ प्रतिशत अरबी फारसी के तथा ३३ प्रतिशत अंग्रेजी के। इस मिली जुली भाषा को 'इंडियानी' कहा जाय।

(४) बापू ने 'हिन्दुस्तानी' के लिये गंगा-यमुना की उपमा दी है। किन्तु बिना 'सरस्वती' के 'त्रिवेणी' का संगम कैसा ? मेरी मान्यता है कि 'इंडियानी' प्रयाग के संगम की वह त्रिवेणी होगी, जिसमें अंग्रेजी सरस्वती भी मिली रहेगी। हाँ, अंग्रेजों के देश से हट जाने के कारण उसे गुप्त रूप में ही रहना पड़ेगा।

(५) भाषा का सम्बन्ध बोलने और लिखने से है। पूज्य बापू ने कहा है कि वे दक्षिण-भारतीय लोग जो केवल बोलना-सीखना चाहते हैं वे अपनी

प्रान्तीय लिपियों के माध्यम द्वारा भी राष्ट्रभाषा सीख सकते हैं। बोलना सीखने के लिये तो किसी भी लिपि के माध्यम की आवश्यकता नहीं। तो भी यदि प्रान्तीय लिपियों को भी देश की राष्ट्र-भाषा की राष्ट्रलिपि मान ली जाय तो उनकी संख्या १० होगी। हम एक राष्ट्र-लिपि से दस राष्ट्र-लिपियों तक तो पहुँचेंगे ?

यह सारा झमेला उन लोगों का पैदा किया हुआ है जो देश के लिए एक राष्ट्र-लिपि का आग्रह करते हैं। हम यह स्वीकार करते हैं कि इस अद्वैतवाद की अपेक्षा द्वैतवाद अच्छा है—हिन्दी और फारसी दोनों लिपियों को राष्ट्र-लिपि मान लेना। मजहबी आधार पर किये गये इस तरह के निर्णय का इतना ही तो परिणाम हो सकता है कि पांच-दस वर्ष के बाद फिर एक नये 'पाकिस्तान' की माँग उठ खड़ी हो ! किन्तु, जब आप एक लिपि की बात नहीं मान रहे हैं, नहीं मान सक रहे हैं, आपको उसमें इतना अधिक ऊँच-नीच देखना पड़ रहा है तो फिर निवेदन है कि आपके इस द्वैतवाद की अपेक्षा हमारा त्रैतवाद और अच्छा है—अर्थात् देवनागरी, फारसी, तथा रोमन लिपि। देवनागरी वैज्ञानिक है। फारसी शीघ्र लिपि कही जाती है और रोमन टाइप तथा छपाई के लिए बहुत ही उपयोगी है। तीनों एक से एक बढ़ कर काम की लिपियाँ हैं। इंडिया की राष्ट्रभाषा इंडियानी को, तीनों लिपियों की समान उपयोगिता देख, उन्हें राष्ट्रलिपि मानने में कोई आपत्ति नहीं।

हमें डर है कि अनेक अविश्वासी लोग जैसे किसी समय पाकिस्तान की बात पर हँसते थे वैसे ही इंडिया की राष्ट्र-भाषा 'इंडियानी' के प्रस्ताव को भी आज कदाचित गंभीरतापूर्वक न लें। किन्तु, यदि विचार करेंगे तो देखेंगे कि 'इंडियानी' में हिन्दुस्तानी के सभी गुण हैं और कुछ अतिरिक्त।

हमारा राष्ट्रीय झंडा तिरङ्गा है ही। हमारी राष्ट्र-भाषा तिरङ्गी होनी चाहिये, और हमारी राष्ट्र-लिपियाँ तीन-तीन।

आशा है देश के धुरीजन गंभीरतापूर्वक इस प्रस्ताव पर विचार करेंगे।

युक्तप्रान्तीय सरकार को बधाई

बधाई है यू० पी० सरकार को। बधाई है पन्त सरकार को। बधाई है पालीवाल जी जैसे मन्त्रियों को। बधाई है सभी हिन्दी समर्थक पत्रों को।

कभी कभी दीर्घकाल तक अस्वाभाविक परिस्थिति में रहने के परिणाम स्वरूप किसी व्यक्ति या समाज को जो यंत्रणा सहन करनी पड़ती है, और स्वाभाविक परिस्थिति में साँस लेने का अवसर पा जाने से उसे उस यंत्रणा से जो मुक्ति मिलती है उस मुक्ति को वह बहुत बड़ी बात समझ लेता है। अन्यथा गंगा-जमुना के तट की, प्राचीन 'आर्यावर्त' की, बौद्धों के 'मध्य मण्डल' के अधिकांश प्रदेश की, अंग्रेजों के 'युक्तप्रान्त' की राजभाषा 'हिन्दी' हो, इस घोषणा में कौन सी विशेष बात है! लेकिन क्योंकि अंग्रेजी राज्य के परिणामस्वरूप अभी कल तक अंग्रेजी का बोलबाला रहा है और क्योंकि हमारे न्यायालयों में जनता की भाषा की अपेक्षा अर्बी फारसी शब्दों से लदी हुई दुरूह उर्दू ही आदर पाती रही है, इसलिये आज यू० पी० सरकार के 'देवनागरी' लिपि में लिखी हुई 'हिन्दी भाषा' को राजभाषा घोषित कर देने पर उसे बरबस बधाई देने को जी चाहता ही है। बधाई! अनेक बार बधाई!

अब यू० पी० के बाद सी० पी० और बिहार का नम्बर है। देखें दोनों में कौन पहल करता है? हमें दोनों ही प्रान्तों के मन्त्रिमण्डलों के एक दूसरे से अधिक हिन्दी-प्रेमी होने में सन्देह नहीं।

असली लड़ाई दिल्ली में

लेकिन, अनेक दूसरे महत्वपूर्ण प्रश्नों की तरह भाषा के इस प्रश्न की भी असली लड़ाई दिल्ली में लड़ी जा रही है। प्रान्तों में प्रान्तीय भाषा के रूप में हिन्दी की विजय दिल्ली के संघर्ष में सहायक होगी, किन्तु दिल्ली में हमें हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने का जो प्रयत्न करना है—उसमें दुर्भाग्य यह है कि हमें अपने राष्ट्र-पुरुष गांधी जी का ही पूरा आशीर्वाद प्राप्त

नहीं है। वह प्राप्त तो है किन्तु पाकिस्तान और हिन्दुस्तान की तरह बटा हुआ है।

हमें विश्वास है कि पूज्य गांधी जी ने अपने जीवन में जैसे अन्य अनेक अवसरों पर कांग्रेस अथवा राष्ट्र के निर्णयों के सामने अपने व्यक्तिगत विचारों को महत्व नहीं दिया है, उन निर्णयों को संहर्ष स्वीकार किया है, वैसा ही वह इस अवसर पर भी अखिल भारतवर्षीय विधान परिषद् के निर्णयों को शिरोधार्य कर सकेंगे।

युक्तप्रान्तीय सरकार की घोषणा को सभी ने एक कण्ठ से सराहा है। वह यदि अच्छी नहीं लगी है तो एक पूज्य गांधी जी को और दूसरे बम्बई 'क्रानिकल' के सम्पादक सैयद ब्रेलवी को।

गांधी जी ने युक्तप्रान्त की राजभाषा की चर्चा करते हुए कहा है—"सारे हिन्दुस्तान के एक चौथाई मुसलमान यू० पी० में भरे हैं। वे उर्दू बोलते हैं। अगर उनको वहाँ रहने देना है तो देवनागरी लिपि नहीं होनी चाहिये।" गांधी जी की किसी बात पर 'किन्तु-परन्तु' करते डर लगता ही है। तो भी गांधी जी या कोई भी यदि युक्तप्रान्त की बात कहे तो क्या उसे तब यह नहीं बताना होगा कि युक्त प्रान्त में कितने मुसलमान हैं? सारे हिन्दुस्तान में यदि आठ मुसलमान हों और युक्तप्रान्त में हों केवल दो, तो भी तो यह कथन ठीक ही रहता है कि सारे हिन्दुस्तान के एक चौथाई मुसलमान युक्तप्रान्त में ही बसते हैं। हमें तो यह जानना है कि पिछली गिनती के बहुत सदोष होने पर भी क्या सारे युक्तप्रान्त में १४ प्रतिशत से अधिक मुसलमान बसते हैं? हम यह हिन्दू मुसलमान की गिनती करें ही क्यों? हम भाषा का प्रश्न हल करने बैठे हैं न कि किसी मजहब का। हमारे लिये यह जान लेना पर्याप्त है कि युक्तप्रान्त में सारी ग्रामीण आबादी बिना किसी भेदभाव के अवधी-ब्रज आदि बोलियाँ बोलती है और शहरों के पढ़े-लिखे लोग भी जो कुल आबादी का एक बहुत छोटा हिस्सा है, अपने घरों में अवधी तथा ब्रज आदि बोलते हैं। हाँ बाहरी व्यवहार में हिन्दी-उर्दू। अवधी-ब्रज आदि बोलियाँ हिन्दी की उपबोलियाँ मानी जाती हैं। तब किसी भी ऐसे प्रान्त की जिसकी भाषा सम्बन्धी स्थिति युक्त प्रान्त के समान हो राजभाषा क्या होनी चाहिये? एक ही उत्तर हो सकता है। हिन्दी और हिन्दी के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

बापू जी के कथन में साम्प्रदायिकता

बापू का यह कथन कि 'युक्तप्रान्त के मुसलमान उर्दू बोलते हैं' ठीक नहीं है। उसके आधार पर किए गये निर्णय गलत होंगे ही। बापू के सब कथन देश

की राष्ट्रीय भावना के प्रतिनिधि माने जाते हैं। किन्तु हमें क्षमा किया जाय यदि हम बापू के इस कथन में कि "यदि मुसलमानों को यहाँ रहने देना है तो देव नागरी लिपि नहीं होनी चाहिए" किसी प्रकार की राष्ट्रीयता न देख सकें। यह तो सीधा सादा साम्प्रदायिक कथन है। गांधी जी के अतिरिक्त यदि किसी दूसरे ने ऐसा कहा होता तो पाठकों को लगता कि यह तो मुसलमानों को अपने देश के विरुद्ध भड़काने जैसी बात है। गान्धी जी के कथन से भी ऐसी बातों का वही परिणाम हो सकता है।

अपना देश रूस और चीन की तरह महान् देश है। रूस के सभी जन-तन्त्रों की एक राष्ट्र लिपि है, मजहब के हिसाब से वहाँ ईसाई हैं, यहूदी हैं, मुसलमान हैं, बौद्ध हैं;—सभी हैं। चीन की तो राष्ट्र-लिपि ही नहीं, सारा राष्ट्र-लेखन एक है। अभागे भारत का सभी कुछ मजहब के आधार पर बांटने का आग्रह किया जा रहा है। मर्मान्तक पीड़ा होती है यह सोचकर कि यह आवाज बार बार राष्ट्र-पुरुष गांधी जी की ओर से ही उठ रही है और राष्ट्रीयता के नाम पर।

श्री ब्रेलवी साहब ने अपने १८ अक्तूबर के 'बम्बई-क्रानिकल' में जो अग्रलेख लिखा है पूर्व निश्चित मत के अनुसार 'चित भी मेरी और पट भी मेरी' के ढङ्ग के तर्कों का बड़ा सुन्दर नमूना है। आप गांधीजी का नाम लेकर कहते हैं कि 'मुसलमानों को बराबरी के बर्ताव का जो गम्भीर वचन दिया गया है, उसका यह आग्रह है कि उर्दू को सरकारी भाषा स्वीकार किया जाय ?" मतलब हुआ कि जहाँ कहीं भी इतिहास चन्द मुसलमानों को ले जाकर छोड़ दे वहाँ की राजभाषा उर्दू भी अवश्य होनी चाहिये। अभी तो युक्त-प्रान्त के लिए ही यह बात कही जा रही है, कल भारत के अन्य प्रान्तों के लिए भी यही बात कही जा सकती है। वह कौन सा प्रान्त है जिसमें कुछ न कुछ मुसलमान नहीं हैं ? श्री ब्रेलवी के लेख में हलकी धमकी भी है—"बहुमत को ऐसा कुछ नहीं करना चाहिये कि जिससे अल्पमत वालों के लिए सम्मानपूर्वक रहना कठिन हो जाय।" क्या देश की राष्ट्र-लिपि को राष्ट्रलिपि स्वीकार करना अथवा किसी प्रान्त की राजभाषा को राज-भाषा मान लेना किसी भी सच्चे नागरिक के लिये अपमान की बात हो सकती है ? यदि होती है तो हमें कहना पड़ेगा कि उसकी नागरिकता तथा राज-भक्ति दोनों संदिग्ध हैं।

दो लिपियाँ

श्री ब्रेलवी गांधी जी के नाम के सहारे दो बातें पूरी हुई देखना चाहते हैं। (१) हिन्दी, उर्दू हिन्दू तथा मुसलमानों दोनों के लिए अनिवार्य कर

दी जाय। इसका साफ मतलब यह हुआ कि कोई भी मुसलमान तब तक प्रान्त की भाषा सीखने के लिये तैय्यार नहीं है, तैयार नहीं हो सकता जब तक उसकी कल्पित भाषा उर्दू को हर गैर-मुस्लिम सीखने के लिये तैयार न हो। हम जानना चाहते हैं कि क्या श्री ओलवी इसे किसी भी प्रान्त के गैर-मुस्लिमों के लिए सम्मानपूर्ण स्थिति समझते हैं ?

यदि यह न हो सके तो श्री ओलवी चाहते हैं (२) कि कम से कम दोनों लिपियों को छूट दे दी जाय—दोनों लिपियों को सरकारी लिपियाँ मान लिया जाय। श्री ओलवी एक अंग्रेजी अखबार के सम्पादक हैं। अंग्रेजी में हिन्दी उर्दू के झगड़े छपते रहें और अंग्रेजी अखबार बिकते रहें—यही अब तक की अंग्रेजी पत्रकार-कला की नीति रही है। अन्यथा किसी प्रान्त की दो दो लिपियों को राज-लिपि स्वीकार कर लेने के—और वह भी मजहबी आधार पर—क्या दुष्परिणाम हो सकते हैं, इसे हमारी तरह श्री ओलवी भी कुछ न कुछ अवश्य समझ पाते !

युक्तप्रान्तीय सरकार के अर्थ-मंत्री श्री पालीवाल जी ने अपने वक्तव्य में ठीक ही कहा है—"दोनों लिपियों को क़ायम रखना स्टाफ और जनता दोनों के लिए बहुत ही महँगा और कष्टदायक साबित होता। सरकार ने साम्प्रदायिक आधार पर नहीं बल्कि प्रान्त में निवास करने वाली जनता की सुविधा को ध्यान में रखकर हिंदी को राजकीय-भाषा के पद पर प्रतिष्ठित किया है। इसके अतिरिक्त मैं नहीं सोचता कि हिंदी और उर्दू का विभाजन धार्मिक आधार पर किया जाना चाहिये।"

हम दोनों लिपियों के ज्ञान के पक्षपाती हैं, उसे उपयोगी मानते हैं, किंतु उन्हें स्वीकृत कराने के लिए जो विषैला तर्क उपस्थिति किया जा रहा है उसके परम विरोधी हैं। यदि देश में कोई भी ऐसा सम्प्रदाय है चाहे वह हिंदू हो चाहे गैर-हिन्दू—जो किसी भी उचित बात को—किसी भी राष्ट्रहित की बात को—केवल इसलिये सुनने और मानने के लिए तैयार नहीं क्योंकि उसने समझ लिया है अथवा उसे किसी ने समझा दिया है कि यह उसके 'मजहब' के खिलाफ है तो उस सम्प्रदाय से अथवा उस सम्प्रदाय के वैसे लोगों से तो देश की सरकार को किसी न किसी दिन उलझना और निपटना होगा ही। अच्छा है यथाशीघ्र निपट लिया जाय।

युक्तप्रान्त ही गांधी जी का वह काल्पनिक उत्तर-भारत है जहाँ के लोग हिन्दुस्तानी बोलते हैं। हमें हर्ष है कि युक्तप्रान्त की ही सरकार ने सर्वप्रथम

हिन्दी को राज-भाषा के आसन पर प्रतिष्ठित कर हमारी विधान परिषद् के रास्ते को कुछ-कुछ साफ कर दिया है।

उसने इस मामले में दृढ़ता के साथ-साथ जो व्यावहारिक नीति अपनाई है, वह सर्वथा स्तुत्य है।

आशा है उसकी कार्य-पद्धति अन्य प्रान्तीय सरकारों के लिए ही नहीं हमारी भारतीय सरकार के लिये भी उपयोगी सिद्ध होगी।

प्रगतिशील साहित्य के बारे में ×

आप मुझसे सहमत होंगे कि हमारे पास औपचारिक शब्दावली में नष्ट करने के लिये समय एकदम नहीं है। हम जिस काम के लिये इकट्ठे हुए हैं उसे आरम्भ करने जा रहे हैं।

तो भी, आप सब की ओर से, आप सब की आज्ञा से मैं अपने राहुल जी का सार्वजनिक अभिनन्दन करना ही चाहता हूँ। मैं राहुल जी के बारे में कभी कुछ न लिख सका। मित्रों के बहुत आग्रह करने पर भी न लिख सका। किन्तु जब राहुल जी रूस चले गये--भौगोलिक दृष्टि से आँख से ओझल हो गये—तब डरते डरते एक दिन कुछ लिखा गया। अपने उस लेख की दो बातें मुझे आज भी याद हैं, (१) राहुल जी के दिल में भारत की नंगी-भूखी जनता के लिये जो असीम वेदना है उसी ने राहुल जी की लेखनी की नोक को कुछ इतना तीखा बना दिया है कि वह कुछ लोगों को इस बुरी तरह चुभती है कि वह सोते रह ही नहीं सकते।

(२) राहुल जी में अपने भारत के लिये प्रेम ही नहीं कुछ ऐसा मोह भी है कि जिस दिन उन्हें लगेगा कि उनके रूस-निवास का उनकी मातृभूमि के लिये कोई विशेष उपयोग नहीं है, राहुल जी उसी दिन भारत लौट आयेंगे।

मैं नहीं समझता हूँ कि राहुल जी के भारत वापिस आने के लिये इससे सुन्दर और कौन सी घड़ी हो सकती थी? १५ अगस्त को रात को शंखध्वनि द्वारा देश में स्वराज्य की घोषणा हुई और उसके ठीक दो दिन बाद १७ अगस्त को राहुल जी बम्बई उतरे। कौन नहीं जानता कि १५ अगस्त के स्वर्ण-विहान को समीप लाने में देश ने जो बलिदान किये, उनमें राहुल जी की वाणी और लेखनी का ही नहीं उनकी जेल-यात्राओं, भूख-हड़तालों तथा लाठी की मार से सिर से गिरी रक्त की बूंदों का भी अपना स्थान है। सच्ची बात है यह भारतीय रक्त की खाद ही है जिसके कारण आज स्वतन्त्रता रूपी अंगूरी बेल लहलहा उठी है।

हम इस अवसर पर अपने महान् परिव्राजक राहुल सांकृत्यायन का उनकी अपनी मातृभूमि में स्वागत करते हैं।

× प्रगतिशील साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष पद से।

भारत 'स्वाधीन' हुआ है सही, किन्तु जिस जनता के सुख के लिये हम स्वाधीनता की आकांक्षा करते हैं, क्या उस जनता को सुख प्राप्त हो गया है ? उस दिन एक अंधा भिखमंगा कह रहा था—"बाबू ! भूख लगी है, जय हिंद !" क्या यह आज के भारत की सच्ची तसवीर नहीं है ? वह अन्धा था। भारत भी अंधा न हो तो ये साम्प्रदायिक दंगे क्यों हों ? वह भूखा था। भारत भी भूखा न हो तो स्वार्थी लोग धर्म और मजहब का नाम ले ले कर लोगों का खून ख़च्चर कराने में कैसे सफल हों ? हाँ, अंधे, भूखे, भारत के सिर पर जय-हिंद का ताज रखा गया है। हमें आशा है, इसलिए हम प्रयत्न करेंगे कि अंधा-भारत अंधा न रहे, भूखा भारत भूखा न रहे, वह जयहिंद कहे, कह सके, किंतु जरा छाती तानकर कह सके।

अभी तक हमें मुख्य रूप से विदेशियों से ही निपटना था। अभी भी उनसे निपटना समाप्त नहीं हुआ। उनके साथ-साथ अब हमें अपनों से भी समझना बूझना है। 'स्वराज्य' यदि 'सुराज्य' न हुआ तो ऐसे स्वराज्य से भी क्या लाभ ?

अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ अपने सब भावी प्रयत्नों के मार्ग-प्रदर्शक के रूप में आज राहुलजी का स्वागत और अभिनन्दन करता है।

आगतबन्धुओं !

मैं जानता हूँ कि इन मँहगाई और ठगाई—ब्लेक मार्केट को और क्या कहा जाय ?—के दिनों में आप यहाँ बहुत सुख-सुविधा की आशा लेकर नहीं आये हैं। स्थानीय प्रगतिशील लेखक संघ ने यूँ तो अपनी ओर से दौड़ धूप करने में कुछ उठा नहीं रखा फिर भी मजदूर का अतिथि मजदूर का ही अतिथि होता है। उसे आराम से बैठ कर खाने पीने और पैर फैलाकर सोने को नहीं ही मिलता। अहदियों की यह संस्कृति जिन लोगों की विशेषता है वे कुछ दूसरे ही प्राणी हैं। मजदूर मजदूर के यहाँ जाता है तो उसे खाने में हिस्सा बटाने से पहले काम में हिस्सेदार होना पड़ता है। मैं इसी भावना से साहित्यिकों द्वारा किये गये इस आयोजन में सहयोग देने के लिये आप सब को निमंत्रण देता हूँ। आशा है इस निमंत्रण को ही आप अपना 'स्वागत' समझेंगे।

प्रगतिशील लेखक संघ को अस्तित्व में आये लगभग दस वर्ष हो गये हैं। मुझे पता नहीं कि हमारी भाषा का एक सामान्य साहित्यिक और हमारे साहित्य का एक सामान्य पाठक अभी तक इस प्रगतिशील लेखक नामक जन्तु को ठीक ठीक पहचान पाया है या नहीं ? इधर कुछ समय से मैं स्वयं भी उससे परिचित होने के लिये प्रयत्नशील हूँ।

आप मेरे स्वागत-समिति का अध्यक्ष बना दिये जाने से धोके में न आयें। स्वागत-समिति का अध्यक्ष तो मुझे केवल इसलिये बना दिया गया है कि बाहर से आगत बन्धुओं की सुख-सुविधा में जो जो कमी रह जाय उसे अपने स्वागताध्यक्ष की अकिंचनता के सिर मढ़ कर स्वागत-समिति आसानी से छुट्टी पा जाय।

हाँ, तो मुझे समय-समय पर यह सुनने को मिला है कि यह प्रगतिशील लेखक आन्दोलन एक विदेशी पौधा है, विदेश में जन्म ग्रहण किया और विदेश के ही अनुकूल है। क्या मजे की बात है कि जितनी ऐयाशी की चीजें हैं उनके बारे में कोई कभी नहीं सोचता कि ये स्वदेशी हैं अथवा विदेशी? किन्तु जहाँ कोई काम की चीज अस्तित्व में आई, दुनिया में कहीं भी किसी ऐसे विचार ने जन्म ग्रहण किया जिससे देश के सुरक्षित-स्वार्थों को धक्का लगने का डर हुआ तो फिर विचारों तक के क्षेत्र में यह स्वदेशी-विदेशी की चर्चा चल खड़ी होती है।

प्रगतिशील लेखक संघ का इतिहास और पिछले दस वर्ष में अपने वाङ्मय के विविध अंगों के प्रति प्रगतिशील लेखकों ने अपना कर्तव्य कैसे निभाया है और आगे हम उनसे क्या आशा रख सकते हैं—इस सबकी चर्चा अधिकारी लोग करेंगे और यदि हम सब मिलकर यह नहीं करेंगे तो और करेंगे क्या? मुझसे तो आप अधिक से अधिक यह आशा कर सकते हैं कि प्रगतिशील साहित्यिकों को समझने में मेरे अपने दृष्टिकोण ने शनैः शनैः कैसे क्या प्रगति की उसकी कुछ बात कह सकूँ।

सबसे पहले मैं प्रगतिशील लेखक की भाषा की ही बात लूँ। क्या वह हिन्दी का पक्षपाती है? क्या वह उर्दू का पक्षपाती है? अथवा हिन्दुस्तानी का? मेरी समझ में वह हिन्दी का पक्ष लेते हुये उर्दू का विरोधी नहीं है और उर्दू का पक्ष लेते हुये हिन्दी का विरोधी नहीं है। वह किन्हीं राजनीतिक उद्देश्यों की सिद्धि के उद्देश्य से अथवा उनके नाम पर कोई बनावटी भाषा गढ़ता नहीं फिरता। हाँ, वह भाषा का निर्माण करता है, यह अवश्य है। किन्तु उसकी भाषा रूपी सरिता के केवल दो तट हैं। एक उसका अपना आप और दूसरा उसका पाठक। जो भाषा उसके अपने विचारों का अधिक से अधिक ईमानदाराना प्रतिबिम्ब हो सकती है और जिस भाषा के दर्पण में उसके पाठक को अपना मुँह स्पष्ट दिखाई देता है—ऐसी भाषा और केवल ऐसी भाषा ही किसी भी सच्चे प्रगतिशील लेखक की प्रियवाणी हो सकती है।

का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिये साँच
काम जु आवै कामरी, का लै करै कुमाच।

मैंने जान-बूझकर यहाँ गुसाईं तुलसीदास को उद्धृत किया है क्योंकि मैं इस वहम का शिकार नहीं हूँ कि १६वीं सदी में पैदा हुए कवि की अपेक्षा बीसवीं सदी में पैदा होने वाला कवि अवश्य ही अधिक प्रगतिशील होता है। प्रगतिशीलता व्यक्ति का गुण है, न कि सन् ४६ या सन ४७ का।

भाषा तथा विचारों में यदि हम विचार न करें तो भारी अन्तर मालूम देता है। यदि विचार करें तो उच्चारण-विहीन भाषा को हम 'विचार' कह सकते हैं और जोर-जोर से विचारने को भाषा। इसलिये जैसे हमारे भाव और विचार होंगे वैसी ही हमारी भाषा होगी। यदि हम अपनी भावनाओं और विचारों की सुध लें तो विचारी भाषा तो बहुत कुछ अपनी सुध अपने आप ले लेती है।

मेरी सीमित जानकारी में प्रगतिशील लेखक ने यही कुछ किया है। 'कविता' के क्षेत्र में उसने तुकबन्दी को 'कविता' का आवश्यक गुण नहीं माना। उसने कविता का एक मात्र गुण रचना का सरस होना ही माना। जहाँ यह ठीक है कि प्रत्येक तुकबन्दी कविता नहीं होती वहाँ यह भी ठीक ही है कि प्रत्येक ऐसी रचना, जिसमें एक लाइन दो इंच की, दूसरी डेढ़ इंच की, और तीसरी फिर ढाई इंच की हो, भी 'कविता' नहीं होती। तुकबन्दी में प्रायः जो 'गीत रहता है उसके कारण हम गलती से तुकबन्दी को भी 'कविता' मान लेते हैं। अतुकान्त में प्रायः 'गीत' होता ही नहीं। वहाँ सच्ची 'कविता' ही 'कविता' कहला सकती है। तुकबन्दी—यदि किसी प्रसिद्ध कवि की हुई—तो बहुधा 'कविता' न होने पर भी 'कविता' की पंक्ति में जा बैठती है।

क्या 'कविता' क्या 'कहानी' और क्या 'उपन्यास'—सभी क्षेत्रों में प्रगतिशील साहित्यिक पर 'अश्लीलता' का दोषारोपण हो चुका है। दोषारोपण करने वाले इस दोष से और भी विशिष्ट रूप से विभूषित हैं कहने से प्रगतिशील साहित्यिक का काम नहीं चलता। उसे बताना है और स्पष्ट करना है, जिसे लोग 'अश्लीलता' समझते और कहते हैं वह क्या वस्तु है ? मेरी सम्मति में वह कुछ अंशों में तो गुलाम देश के हवा-पानी के नपे-तुले, बन्धनों में जकड़े, चारों ओर से अवरुद्ध जीवन की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है और कुछ अंशों में अपने रूढ़िग्रस्त जीवन की सड़ी हुई परम्परा को तोड़ने का जान-बूझ कर किया गया प्रयत्न है।

हाँ, प्रगतिशील साहित्यिक भी अपनी झोंक में कुछ भूल कर गया लगता है। 'संयम' के नाम पर जबर्दस्ती के आत्मदमन (सप्रेशन) से मानवी जीवन में जो विकृतियाँ पैदा हो गई हैं जब उसने उन्हें जाना पहचाना तो वह इस तथाकथित 'संयम' के विरुद्ध खड्गहस्त हो उठा। उसने अपने 'पाठक' को

उच्छृंखलता के द्वार पर ही नहीं कहीं-कहीं एकदम खुल खेलने के द्वार पर ले जाकर खड़ा कर दिया, इसे व्यक्ति-विशेष का व्यक्तिगत दोष ही मानना होगा, कुछ प्रगतिशीलता का नहीं। जो खरा प्रगतिशील साहित्यिक है वह जानता है कि जबरदस्ती के आत्मदमन की हानियों से बचने का उपाय खुल खेलना नहीं। उसका तो एक मात्र उपाय है अपनी प्रज्ञा रूपी छैनी से विकृत संस्कारों का मूलोच्छेद करना।

'आत्म-विकास' के बाधक नियमों को तोड़ने के लिए जितने बल की आवश्यकता होती है, आत्म-विकास के साधक नियमों का पालन करने के लिए उससे कुछ अधिक बल की ही अपेक्षा रहती है।

हम इस 'आत्म-विकास' शब्द के समझने में गलती न कर बैठें। ये किसी योगी का 'आत्म-विकास' नहीं, यह किसी अध्यात्मवादी का 'आत्म-विकास' नहीं—यह केवल एक स्पन्दनशील सामाजिक प्राणी का विकास है जो समाज को आगे बढ़ाता हुआ स्वयं आगे बढ़ रहा है और अपने को आगे बढ़ाता हुआ समाज को आगे ले जा रहा है।

समाज का ही एक अंग होकर भी समाज के प्रति अपना किसी प्रकार का कर्तव्य न मानने वाले साहित्यिक ने जब अपनी तुला पर प्रगतिशील साहित्यिक को तोला तो विचारा पूरा न उतर सका। तोलने वाले ने एक घड़ी के लिए भी यह नहीं सोचा कि उसकी तुला, उसकी तराजू ही गड़बड़ है।

उनकी धारणा है और एक हद तक पर-प्रवंचना भी कि वे केवल 'स्वान्तःसुखाय' लिखते-पढ़ते हैं। प्रगतिशील लेखक भी 'स्वान्तः सुखाय' ही लिखता पढ़ता है। विशेषता इतनी है कि उसे समाज के प्रति अपना कर्तव्य निबाहने में ही 'सच्चासुख' मिलता है। वह जानता है—

ये केचित् दुःखिता लोके सर्वे आत्मसुखेच्छया,
ये केचित् सुखिता लोके सर्वे अन्यसुखेच्छया ॥

(जितने भी आदमी संसार में दुखी हैं वे केवल इसलिये दुखी हैं कि वे अपने को ही सुखी बनाने की इच्छा रखते हैं। और संसार में जितने भी आदमी सुखी हैं वे इसीलिए सुखी हैं कि वे दूसरों ही को सुखी बनाने की इच्छा लिये रहते हैं।)

इसलिए वह कहता है,—

मुच्यमानेषु सत्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेण अरसिकेन किम् ॥

(प्राणियों को मुक्त होते देखकर मेरे मन में आनन्द का जो सागर

उमड़ आता है वही मेरे लिए पर्याप्त है—इस अलोने मोक्ष को लेकर मैं क्या करूँगा ?)

प्रगतिशील लेखक आदमी के भौतिक मोक्ष—भोजन वस्त्रादि के अभाव की दुःखद-वेदना से मुक्ति के लिये ही प्रयत्नशील नहीं है, वह उसके भीतरी विकास के लिये भी प्रयत्नशील है।

अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये क्या वह किसी साधन विशेष से चिपटा रहता है ? नहीं। वह हर साधन को अपनाने को तैयार है और ज्यों ही साधन का उसके लिये कोई उपयोग न रहे वह उसे तुरंत छोड़ देने के लिये भी प्रस्तुत है।

अप्रगतिशील व्यक्ति और प्रगतिशील व्यक्ति का भेद भगवान् बुद्ध ने समझाया है—उपमा देकर। घास के दो गट्ठर पड़े हैं। दो व्यक्ति उन्हें उठा लेते हैं। थोड़ी ही दूर आगे जाने पर उन्हें रुई के गट्ठर मिलते हैं। घास के गट्ठर छोड़कर रुई के गट्ठर उठा लेना ही उनके लिये स्वाभाविक और उचित है। किंतु उन दोनों में से एक कहता है—मैं अपने घास को इतनी दूर से लिये ढोता आ रहा हूँ। मैं इसे कैसे छोड़ दे सकता हूँ। दूसरा व्यक्ति जो प्रगतिशील है, घास का गट्ठर छोड़ रुई का गट्ठर सँभालता है। आगे उन्हें ऊन मिलती है। पहले व्यक्ति का कहना है कि जब उसने रुई की गठरी मिलने पर अपनी घास की गठरी नहीं छोड़ी तो अब ऊन मिलने पर भी वह अपनी घास की गठरी क्यों छोड़े ? वह नहीं छोड़ता, नहीं छोड़ता। अपनी सूखी घास की गठरी ही लादे चलता है। दूसरा है कि उत्तरोत्तर मूल्यवान वस्तु को ग्रहण करता चला जा रहा है।

हम जिसे आज तक 'धर्म' समझते रहे हैं, बदली हुई परिस्थिति में वह 'अधर्म' हो सकता है। कदाचित् इसीलिये भगवान् बुद्ध ने कहा— कुल्लूपमं वो भिक्खवे धम्मं देसिस्सामि नित्थरणत्थाय नो ग्रहणत्थाय। धम्मापि पहातब्बा पगेव अधम्मा।

"भिक्षुओं मैं नौका की तरह धर्म का उपदेश देता हूँ, बैठ कर पार होने के लिये, पकड़ कर बैठने के लिये नहीं। जिन्हें तुम 'अधर्म' समझते रहे हो, उन्हें ही नहीं जिन्हें 'धर्म' समझते रहे हो—वे भी छोड़ दिये जाने चाहिये।"

मैं समझता हूँ कि प्रगतिशील साहित्यिक को शायद ही आज तक इससे बड़ा मार्ग-प्रदर्शन मिला हो।

यह 'अधर्मों' को ही नहीं 'धर्म' समझे जाने वाले 'अधर्मों' को भी

छोड़ते चलना और देशकालानुसार नये 'धर्मों' को ग्रहण करना आसान काम नहीं—बड़ी टेढ़ी खीर है।

यूरोप में जो चीज जितनी ही आधुनिक हो उतनी ही अच्छी समझी जाती है, जो फैशन जितना ही अप-टु-डेट हो उतना ही अच्छा। अपने यहाँ पीछे की ओर बढ़ते-चढ़ते 'वैदिक युग' की चीज सर्वश्रेष्ठ, 'धातु-युग' की चीज उससे भी श्रेष्ठ और 'पत्थर-युग' की चीज उससे भी श्रेष्ठ।

प्राचीन अथवा अर्वाचीन के मिथ्याविश्वास से मुक्त होकर जब व्यक्ति सदैव श्रेष्ठतर 'धर्म' को अंगीकार करने को प्रस्तुत रहता है तभी वह प्रगतिशील कहला सकता है—इससे पहले नहीं।

उसे हर बात को—किसी बड़े से बड़े आदमी की कही हुई हो अथवा हजारों-लाखों आदमियों द्वारा भी 'ठीक' मानी गई हो—स्वबुद्धि की कसौटी पर कसने के लिये तैयार रहना होता है ठीक वैसे ही जैसे सुनार सोने का खरा-खोटा जाँचता है।

पंजाबियों की एक कहावत है "हत्थ कारवल्ल दिल यारवल्ल।" अर्थात् हाथ काम में लगे हुए, दिल यार (परमात्मा) में लगा हुआ। प्रगतिशील साहित्यिक के हाथ में कलम है, लेकिन उसका यार वह शोषित समाज है जो सड़कें बनाता है किन्तु जो उन पर मोटर में बैठकर चल नहीं पाता, मकान बनाता है, किन्तु उनमें रह नहीं पाता, अखबार और किताबें छापता है, किन्तु उन्हें पढ़ नहीं पाता, आधुनिक सभ्यता की सारी सामग्री और उसके साधनों को पैदा करता है, किन्तु स्वयं कभी किसी एक का भी उपभोग या उपयोग नहीं कर पाता।

आज का साहित्यिक स्वयं भी कुछ-कुछ इसी श्रेणी का प्राणी है। उसकी 'कृति' समाज-सेवा और साहित्य-सेवा के साधन से तरक्की करके अब काफी लोगों के बैंक-एकाउंट बढ़ाने का साधन बन गई है। पुस्तक बिके न बिके कागज का बिल प्रकाशक को चुकता कर ही देना होता है, किन्तु लेखक का बिल, उसकी रायलटी पुस्तकों की बिक्री पर निर्भर करती है। १००० छपती हैं, १५००० बिक जाती हैं, फिर भी ६०० स्टाक में बची रहती हैं। और वे छः सौ कभी बिकती ही नहीं, बिकती हैं तो उनका हिसाब नहीं होता और हिसाब होता है तो ठीक ठीक नहीं होता।

हाँ, लेकिन चाहे तो वह अपनी 'कृति' को एक मुश्त बेच दे सकता है। विवाह के नाम पर खरीदी गई लड़की तक अपने पिता के घर आ जा सकती

है, किन्तु लेखक की 'कृति' का अपने जन्मदाता के साथ उतना भी सम्बन्ध नहीं रहता।

'साहित्य-सेवा' के नाम पर 'चाँदी के जूतों' की इससे बड़ी मार की मैं कल्पना नहीं कर सकता।

हिन्दी प्रगतिशील लेखकों के सामने जो अनेक समस्यायें हैं, उनमें ये और इस प्रकार की अनेक दूसरी समस्यायें हैं।

हम सब उनके सम्बन्ध में विचार करें, निर्णय करें और अपने निर्णय को कार्यरूप में परिणित करें।

मैंने आप सबको इतनी देर तक राहुल जी का भाषण सुनने से वंचित रखा—उसके लिये क्षमा करेंगे।

प्रगतिशील लेखक संघ चिरंजीवी हो।

—:*:—

अन्तिम